इकाई-4
नाट्य का उद्भव और विकास

नाट्य-सामान्य परिचय

मानव स्वभावतः अनुकरणशील प्राणी है। छोटे बच्चों की अविकसित चेतना में भी इसका बीज रूप देखा जा सकता है। मानव ही नहीं वानर सद श कुछ अन्य विशिष्ट मानवेतर प्राणियों में भी अनुकरण व त्ति को देखा जा सकता है। काव्य में भी इसी अनुकरणव त्ति को मूल कारण मानना अनुचित न होगा। काव्य के विभिन्न भेदों में जहाँ तक नाट्य का प्रश्न है, उसमें तो स्पष्ट रूप से अनुकरण द ष्टिगोचर होता है। नाट्यशास्त्रकार आचार्य भरत के अनुसार नाट्य लोकव त्त का अनुकरण है। जिसमें नाना प्रकार के भावों का समावेश रहता है। लोक के सुख- दुःखादि से युक्त भाव जब आङ्गिकादि अभिनयों से समन्वित होते हैं, तब उन्हें नाट्य कहा जाता है।

"नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम्।
लोकव त्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम्।।
यो यं स्वभावो लोकस्य सुखदुःखसमन्वितम्।
सो ङ्गाद्यभिनयोपेतो नाट्यमित्यभिधीयते।।"

दशरूपककार धन जय ने भी अवस्थाओं के अनुकरण को नाट्य माना है- **"अवस्थानुकृतिर्नाट्यम।"** अर्थात् काव्य में निबद्ध या वर्णित चारों प्रकार के - धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित तथा धीरप्रशान्त नायकों, तत्तत्प्रकृतिगत नायिकाओं तथा अन्य पात्रों की सुख दुःखादिगत प्रत्येक प्रकार की अवस्थाओं का चारों प्रकार के - आङ्गिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक अभिनयों से अनुकरण किया जाना नाट्य कहलाता है। नाट्य को ही रूपक कहा जाता है- **"रूपकं तत्समारोपात्।"** क्योंकि नाट्य में नट (अनुकर्त्ता) पर रामादि (अनुकार्य) का आरोप किया जाता है।

साहित्यशास्त्रियों ने काव्य के दो भेद किए हैं- द श्य एवं श्रव्य। श्रव्य काव्य में शब्दों के द्वारा पाठकों या श्रोताओं के हृदय में रस का स चार किया जाता है। इसके अन्तर्गत कथा, कहानी, उपन्यास, खण्ड काव्य, महाकाव्य आदि का ग्रहण किया जाता है। द श्य काव्य में श्रवण के साथ - २ दर्शन की भी प्रधानता होती है। इसके अन्तर्गत नाट्य का उसके सभी भेदों सहित ग्रहण होता है। नाट्य को प्रभावशाली बनाने के लिए एवं दर्शकों को उसका पूर्ण रसास्वादन कराने के लिए संवादों के साथ रङ्गम च की सज्जा, पात्रों की वेशभूषा, आकृति, भाव- भंगिमाएँ एवं क्रिया-कलाप भी नाट्यानुकूल ही प्रयुक्त किए जाते हैं। अत एव नाट्य काव्य के अन्य भेदों की अपेक्षा अधिक रोचक, रम्य एवं हृदयावर्जक होता है। यह निर्विवाद सत्य है कि अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा नेत्रेन्द्रिय से ग हीत वस्तु अधिक समय तक मानसपटल पर स्थायी बनी रहती है तथा वैशिष्ट्यपूर्ण होती है। अतः नाट्य में दर्शक को रसास्वादन कराने की क्षमता सर्वाधिक है। नाट्य में दर्शक को अपनी कल्पना दौड़ाने की आवश्यकता नहीं होती, बस परदा उठते ही रसास्वादन प्रारम्भ हो जाता है। यही कारण है कि जनसाधारण श्रव्य काव्य की अपेक्षा द श्यकाव्य अर्थात् नाट्य से अधिक प्रभावित होता है।

भरतमुनि ने भी नाट्य की विशेषता बताते हुए कहा है कि वेद, विद्या, इतिहास, आख्यान, श्रुति, स्म ति तथा सदाचारयुक्त, धर्म, यश एवं आयुप्रद, हित एवं बुद्धि का वर्धन करने वाले, लोक को उपदेश देने वाले, दुःखी, श्रान्त, शोकातुर तथा दीन-हीनों को विश्रान्ति (शान्ति) प्रदान करने वाले तथा विनोद (मनोर जन) प्रदान करने वाले इस नाट्य में सभी शास्त्र एवं विभिन्न कार्य विद्यमान हैं। वस्तुतः इस जगत् में कोई भी ऐसा शिल्प, कला, विद्या, योग, ज्ञान या कर्म नहीं है जो नाट्य में न हो। महाकवि कालिदास ने भी नाट्य को भिन्न रुचि (विशिष्ट रुचि) वाले व्यक्तियों के लिए मनोर जन का साधन बताया है- **"नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्।"**

आजकल सम्पूर्ण द श्यकाव्य के लिए 'नाट्य' अथवा 'रूपक' की अपेक्षा 'नाटक' शब्द का ही प्रयोग अधिक प्राप्त होता है जबकि 'नाटक' तो 'रूपक' का एक भेद मात्र है। रूपक के दश भेद हैं-

"नाटकमथ प्रकरणं भाणव्यायोगसमवकारडिमाः।
ईहाम गाङ्कवीथ्यः प्रहसनमिति रूपकाणि दश।।"

नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, डिम, ईहाम ग, अङ्क, वीथी और प्रहसन। रूपक के ये दश प्रकार वस्तु, नेता और रस की द ष्टि से परस्पर भिन्न हैं। इन्हीं तीन प्रधान भेदकों का संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है-

वस्तु

वस्तु या कथावस्तु को व त्त या इतिव त्त के नाम से भी जाना जाता है। यह रूपक का आधार है। भरतमुनि इतिव त्त को नाट्य का शरीर मानते हैं- **"इतिव त्तन्तु नाट्यस्य शरीरं परिकीर्तितम्।"**

यह कथावस्तु जितनी सरस होती है, नाटक भी उतना ही सरस होता है। वेद, पुराण, इतिहासादि ग्रन्थों को उपजीव्य मानकर गढ़ी हुई कथावस्तु प्रख्यात कही जाती है। कवि द्वारा स्वयं कल्पना करके बनाई हुई कथावस्तु उत्पाद्य कही जाती है। वेद, पुराण, इतिहासादि ग्रन्थों से कथावस्तु को आधार रूप में ग्रहण करके स्वकल्पित अंशों में चमत्कारयुक्त की गई कथावस्तु मिश्र कहलाती है।

रूपक की कथावस्तु में कहीं-२ पर अनेक कथाएँ संगमित होती है। इनमें से नायक की कथा को आधिकारिक कहा जाता है क्योंकि इसमें फल प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील अधिकारी नायक को अधिकार (फल सिद्धि) की प्राप्ति होती है। इसके अतिरिक्त प्रसंग रूप से आने वाली प्रासंगिक कथाएँ पताका या प्रकरी हो सकती हैं। पताका नायक को उपनायक कहा जाता है । यह प्रधान नायक की सहायता से अपना स्वार्थ सिद्ध करता है तथा प्रधान नायक की फल प्राप्ति में सहायक बनता है। प्रकरी व त्त स्वल्पदेश व्याप्त होता है। इसका स्वार्थरहित नायक प्रधान नायक का उपकारी होता है। कथावस्तु का अध्ययन प्रधानतः तत्सम्बन्धी अर्थ प्रकृति, कार्यावस्था और सन्धि की द ष्टि से किया जाता है।

अर्थप्रकृति

कथावस्तु के आख्यान के उद्भव को अर्थप्रकृति कहते हैं। ये अर्थप्रकृतियाँ पाँच हैं- बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य।

बीज

यह अर्थ प्रकृति नाट्यव क्ष के बीज के समान होती है। भरतमुनि के अनुसार -

"स्वल्पमात्रं समुत्स ष्टं बहुधा यद्विसर्पति।
फलावसानं यच्चैव बीजं तत्परिकीर्तितम्।"

अर्थात् संवादों के माध्यम से कही हुई एक छोटी सी बात बहुविध आशयों से विसर्पण करके अन्ततः फल तक जा पहुँचती है, वह बीज कहलाती है।

बिन्दु

फल की सम्यक् प्राप्ति तक किसी एक प्रयोजन के समाप्त हो जाने पर तथा रूपक की कथावस्तु के प्रवाह के अवरूद्ध होने पर जो अविच्छेद का कारण होता है, उसे बिन्दु कहा जाता है-

"प्रयोजनानां विच्छेदे यदविच्छेदकारणम्।
यावत् समाप्तिर्बन्धस्य स बिन्दुः परिकीर्तितः।।"

इस प्रकार बिन्दु रूप वक्तव्य आगे की कथा का बीज बन जाता है। ऐसी स्थिति में बिन्दु को अवान्तर बीज भी कहा जा सकता है।

पताका

पताका नामक तीसरी अर्थप्रकृति को ही प्रासङ्गिक व त्त भी कहा जाता है। यह कथा मुख्य कथा का अभिन्न अङ्ग होती है तथा रूपक के अन्त तक चलती है।

"यद् व त्तं तु परार्थ स्यात् प्रधानस्योपकारकम्।
प्रधानवच्च कल्प्येत सा पताकेति कीर्तिता।।"

प्रकरी

यह व त्त पताका व त्त की तरह ही प्रासंगिक होता है परन्तु यह लघु होता है। इसके नायक का कोई अपना प्रयोजन नहीं होता। यह केवल प्रधान की फलप्राप्ति में सहायक होता है। यह व त्त अनुबन्ध के बिना ही संयोजित किया जाता है। -

"फलं प्रकल्प्यते यस्याः परार्थायैव केवलम्।
अनुबन्धविहीनत्वात् प्रकरीति विनिर्दिशेत्।।"

कार्य

अन्तिम अर्थप्रकृति कार्य है। नाट्यशास्त्र के अनुसार कार्य का अभिप्राय कार्यव्यापार तक ही सीमित नहीं है अपितु इसके अन्तर्गत वे सारी परिस्थितियाँ आ जाती हैं जो कर्त्ता के लिए सहायक होती हैं।

"यदाधिकारिकं वस्तु सम्यक् प्राज्ञैः प्रयुज्यते।
तदर्थो यः समारम्भस्तत्कार्य परिकीर्तितम्।।"

जिस प्रयोजन के लिए नाट्य के सभी पात्रों के द्वारा जो यत्न किया जाता है, उसे कार्य या प्रयोजन कहा जाता है। वस्तुतः आधिकारिक वस्तु से जो कुछ भी सम्बन्धित वर्णन किया जाता है, वही कार्य है।

रूपक में सभी अर्थप्रकृतियों का निबन्धन आवश्यक नहीं है। अभिनवगुप्त के अनुसार बीज, बिन्दु और कार्य का निबन्धन तो सभी रूपकों में आवश्यक है परन्तु पताका और प्रकरी का सर्वत्र होना आवश्यक नहीं है।

कार्यावस्थाएँ

नाट्य में फल प्राप्ति के इच्छुक पात्रों के द्वारा जो भी कार्य किया जाता है। उसकी क्रमशः पाँच अवस्थाएँ होती हैं- प्रारम्भ, प्रयत्न, प्राप्तिसम्भव, नियतफलप्राप्ति तथा फलयोग। इन्हें कार्यप्रगति के विभिन्न सोपान कहा जा सकता है।

प्रधानभूत फल की प्राप्ति के लिए उत्सुकता का निबन्धन ही प्रारम्भ नामक अवस्था है। फल की प्राप्ति न होने पर उसके लिए जो व्यापार किया जाता है, उसे प्रयत्न नामक अवस्था कहते है। उपायों के द्वारा फल की अनिश्चित रूप में ईषत्प्राप्ति को प्राप्तिसम्भव कहते है। यह अवस्था सन्दिग्धावस्था है। इस अवस्था में फलप्राप्ति के विषय में निश्चय नहीं हो पाता। उपायों के द्वारा फलप्राप्ति के निश्चित जान पड़ने पर नियतफलप्राप्ति नामक अवस्था होती है। यद्यपि यहाँ फलप्राप्ति समग्र रूप में नहीं होती परन्तु फलप्राप्ति का निश्चय होने के कारण गौण रूप में इसे नियतफलप्राप्ति कहा जाता है। सम्पूर्ण क्रियाओं के समग्र फल की प्राप्ति ही फलयोग नामक अन्तिम अवस्था कहलाती है।

सन्धियाँ

प्रधान इतिव त्त के अंश को उसके स्वरूप एवं अङ्ग से सम्बद्ध करने वाले तत्त्वों को सन्धि कहते हैं। कार्य को उपर्युक्त पाँच अवस्थाओं में विभक्त करके उनका अभिनयात्मक रूप बनाने के लिए वाक्यों की रचना की जाती है। प्रत्येक कार्यावस्था के वाक्य प थक् -२ सन्धि के अन्तर्गत रखे जाते हैं। नाटकीय वाक्यों को ही कलात्मक विधि से जोड़ना सन्धि है। इस प्रकार पाँच कार्यावस्थाओं की अनुयायिनी पाँच सन्धियाँ है- मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण सन्धि।

मुख सन्धि

आरम्भ नामक कार्यावस्था से युक्त इस सन्धि में नाना प्रकार के रस को उत्पन्न करने वाली बीजोत्पत्ति पाई जाती है। इसके उपक्षेप, परिकर, परिन्यास, विलोभन, युक्ति, प्राप्ति, समाधान, विधान, परिभावना, उद्‌भेद, भेद और करण नामक १२ सन्ध्यङ्ग होते हैं।

प्रतिमुख सन्धि

प्रयत्न नामक कार्यावस्था से युक्त इस सन्धि में बीज कभी लक्षित तथा कभी अलक्षित रूप में रहता है। इसमें बीज उसी प्रकार अंकुरित दिखाई देता है जैसे मिट्‌टी में छिपे बीज का अंकुर मिट्‌टी के ऊपर दिखाई देता है। इसके विलास, परिसर्प, विधूत, तापन, नर्म, नर्मद्युति, प्रगयण, निरोध, पर्युपासन, वज्र, पुष्प, उपन्यास तथा वर्णसंहार - ये १३ सन्ध्यङ्ग होते हैं।

गर्भ सन्धि

प्राप्तिसम्भव अथवा प्राप्त्याशा नामक कार्यावस्था से युक्त गर्भ सन्धि बीज की प्राप्ति, अप्राप्ति तथा अन्वेषण की स्थिति होती हैं। यहाँ पर प्रतिमुख सन्धि में उद्‌घाटित बीज की प्राप्ति तथा अप्राप्ति के विषय में ऐकान्तिक निश्चय नहीं हो पाता और बीज की प्राप्ति का पुनः - २ अन्वेषण किया जाता है। इस सन्धि के १३ अङ्ग होते हैं- अभूताहरण, मार्ग, रूप, उदाहरण, क्रम, संग्रह, अनुमान, प्रार्थना, आक्षिप्त, तोटक, अधिबल, उद्वेग तथा विद्रव।

विमर्श सन्धि

नियतफलप्राप्ति अथवा नियताप्ति नामक कार्यावस्था से युक्त विमर्श अथवा अवमर्श सन्धि में किसी लोभ, क्रोध या व्यसन से फल प्राप्ति में आई बाधा को दूर करके प्राप्ति का निश्चय प्रदर्शित

किया जाता है। यह अपवाद, संफेट, विद्रव, शक्ति, व्यवसाय, प्रसङ्ग, द्युति, खेद, निषेध, विरोधन, आदान, छादन तथा प्ररोचना आदि १३ सन्ध्यङ्गों से युक्त होती है।

निर्वहण सन्धि

फलयोग अथवा फलप्राप्ति अथवा फलागम नामक कार्यावस्था से युक्त इस सन्धि में मुखादि सन्धियों के नाना प्रकार के भावों से युक्त बीजादि अर्थो को एकत्रित किया जाता है और नायक को फल की प्राप्ति हो जाती है। इसके १४ सन्ध्यङ्ग होते हैं- सन्धि, निरोध, ग्रथन, निर्णय, परिभाषण, द्युति, प्रसाद, आनन्द, समय, उपगूहन, भाषण, पूर्णवाक्य, काव्यसंहार तथा प्रशस्ति।

दशरूपककार ने सन्धियों को अर्थप्रकृतियों के साथ यथासंख्य समन्वित किया है। यह समीचीन प्रतीत नहीं होता क्योंकि पताका और प्रकरी नामक अर्थप्रकृतियों का होना आवश्यक नहीं है। इसके अतिरिक्त कार्य और बिन्दु तो पूरे रूपक में होते हैं, उनको केवल निर्वहण या प्रतिमुख सन्धि के साथ बाँध देना युक्तिसंगत नहीं है।

इन अर्थप्रकृति, अवस्था और सन्धि नामक प्रमुख तत्त्वों के अतिरिक्त व त्त (कथावस्तु) के अध्ययन में विषकम्भक, चूलिका, अङ्कास्य, अङ्कावतार और प्रवेशक आदि अर्थोपक्षेपक, पताकास्थानक, मंगलाचरण या नान्दी एवं भरतवाक्य भी उपयोगी तत्त्व हैं।

नेता

रूपकों का दूसरा भेदक नेता है। नेता शब्द के साथ नायक का सारा परिकर आ जाता है। नायिका, नायक के साथी, नायिका की सखियाँ, प्रतिनायक और उसके सभी साथी नेता के अङ्ग माने गये हैं। वस्तुतः संस्कृत नाट्यसाहित्य में नी (प्रापणे) धातु से निष्पन्न इस नेता शब्द का प्रयोग प्रधान नायक मात्र के लिए नहीं होता अपितु नाट्य के उन सभी पात्रों का इसमें अन्तर्भाव हो जाता है जो नाट्य के कथानक को आगे ले जाने या विकास की ओर अग्रसर करने में सहायक होते हैं।

नाट्य में नायक चार प्रकार का माना गया है। धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित तथा धीर प्रशान्त। यह प्रकार भेद नायक की प्रकृति के आधार पर किया गया है। ये चारों प्रकार के नायक धीर तो होते ही है परन्तु अपनी -२ प्रकृतिगत विशेषताएँ भी होती हैं।

धीरोदात्त

यह नायक प्रायः राजा या राजकुलोत्पन्न होता है। यह निरभिमानी, अत्यन्त गम्भीर, स्थिर तथा अविकत्थन (अपनी प्रशंसा अपने आप न करने वाला) होता है। धारण किए हुए व्रत को यह नहीं छोड़ता। नायक के संपूर्ण आदर्शो से युक्त इस प्रकृति के नायक के उदाहरण के रूप में **मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र** को लिया जा सकता है।

धीरोद्धत

धीरोद्धत नायक घमण्डी, ईर्ष्यापूर्ण, विकत्थन तथा छली होता है। भीमसेन तथा परशुराम इसी कोटि के नायक हैं।

धीरललित

यह नायक सचिवायत्त सिद्धि होता है। राजपाट की सभी चिंताओं से मुक्त यह नायक संगीत, न त्य, कला का प्रेमी, रसिकव त्ति वाला और प्रेम का उपासक होता है। भोग विलास में लिप्त रहता है। इसका सारा राजकार्य इसके मन्त्री देखते हैं। **वत्सराज उदयन** इस कोटि के नायक का उदाहरण है।

धीरप्रशान्त

धीरललित प्रकृति के नायक से सर्वथा विपरीत प्रव त्ति वाला यह नायक कुल की द ष्टि से शान्त प्रकृति का होता है। **'शूद्रक'** के **'म च्छकटिक'** प्रकरण का नायक **'चारुदत्त'** इसी कोटि का नायक है।

रूपक में नायक इन चारों प्रकार के नायकों में से किसी भी कोटि का हो सकता है। नायक के अतिरिक्त जो मुख्य एवं गौण पात्र नाट्य (रूपक) में प्रयुक्त होते हैं उनमें से प्रतिनायक नायक का शत्रु होता है। यह धीरोद्धत प्रकृति का होता है। यह नायक की फल प्राप्ति में बाधक होता है। यथा -'**महावीरचरित'** में **'रावण'** प्रतिनायक है क्योंकि वह नायक राम की फलप्राप्ति में बाधक है। नायक के साथी पताकानायक अथवा उपनायक को पीठमर्द कहा जाता है। सर्वदा नायक की सहायता करने वाला पीठमर्द बुद्धिमान होता है तथा नायक से कुछ ही गुणों में न्यून होता है। **'रामायण'** का **'सुग्रीव' पीठमर्द** का उदाहरण है। नायक के दूसरे अन्य भी सहायक होते हैं। नायक के राजा होने पर राजकार्य तथा धर्मकार्य में सहायक मन्त्री, सेनापति, पुरोहित आदि होते हैं। प्रेम के समय राजा या नायक के सहकारी विदूषक और विट होते हैं। विदूषक संस्कृत रूपकों में एक महत्वपूर्ण पात्र होता है। यद्यपि वह नाट्य में हास्य तथा व्यङ्ग्य की रचना करके मनोर जन का साधन बनता है परन्तु उसका कार्य इससे कहीं अधिक गंभीर है। वह राजा के अन्तःपुर का आलोचक बनकर भी आता है। कभी-२ वह अपने संवादों से अपनी तीक्ष्णबुद्धि का संकेत करता है। वह ब्राह्मण जाति का होता है। सामान्यतः वह पेटू और मूर्ख दिखाई देता है। उसकी वेशभूषा, चाल-ढाल, व्यवहार तथा बातचीत का ढंग हास्यजनक होता है। वह ठिगना, दंतुल और खल्वाट होता है। प्रायः उसे मोदकप्रिय वर्णित किया जाता है। वह वाग्व्यवहार में प्राकृत का आश्रय लेता है। वह राजा का विश्वासपात्र और उसके प्रेम व्यवहार में सहायक होता है। **'म च्छकटिक'** का **'मैत्रेय'** इसका उदाहरण है। विदूषक के अतिरिक्त विट भी राजा या नायक का सुह त् होता है। वह किसी न किसी कला में प्रवीण तथा वेश्याओं के व्यवहार का पूर्णज्ञाता होता है। 'म च्छकटिक' में विट का प्रयोग प्राप्त होता है। राजा के अन्य भी सहायक होते हैं- दूत, कुमार, प्राड्विवाक आदि। नाटककार इन सहायकों का प्रयोग आवश्यकतानुसार करते हैं।

नाट्य में नायिका का भी उतना ही महत्व है जितना कि नायक का, विशेषतः श ंगार रस के रूपकों में। सामान्यतः नायिका को तीन प्रकार का माना जा सकता है-

१ **स्वकीया** अर्थात् नायक की स्वयं परिणीता पत्नी यथा **'उत्तररामचरित'** की **सीता**।

२. **अन्या** अर्थात् वह नायिका जो नायक की स्त्री नहीं है। अन्या या तो किसी की अनूढा कन्या हो सकती है या किसी अन्य की परिणीता स्त्री। अनूढ़ा कन्या का उदाहरण **शकुन्तला, मालती** तथा **सागरिका** हैं। परस्त्री या अन्य की पत्नी का उदाहरण संस्कृत नाट्य में उपलब्ध नहीं है क्योंकि यह प्रयोग नीति एवं धर्म के विरुद्ध है। ३. सामान्या अर्थात् साधारण स्त्री या गणिका यथा **'म च्छकटिक'** की **वसन्तसेना**। कई रूपकों में विशेषतः प्रकरण एवं भाग में गणिका को नायिका के रूप में चित्रित किया जाता है

इसके अतिरिक्त कौनसा पात्र किसको किस तरह सम्बोधित करे। इस शिष्टता का संकेत भी नेता के विवेचन के साथ ही नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में उपलब्ध होता है।

रस

रूपक के भेदक तत्त्वों में रस का महत्त्वपूर्ण स्थान है। रूपक का मुख्य उद्देश्य भी रस की व्य जना करना अर्थात् सामाजिकों के हृदय में रसोद्बोध करना है। रस के विषय में कहा जा सकता है

कि काव्य के पठन, श्रवण या दर्शन से जिस आनन्द का हमें अनुभव होता है, वह आनन्द ही रस कहलाता है। इस रस की निष्पत्ति विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों के संयोग से होती है-

"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।"

लोक में जिन्हें कारण, कार्य और सहकारी कहा जाता है, उन्हें काव्य या नाट्य के अलौकिक क्षेत्र में क्रमशः विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी के नाम से व्यवहृत किया जाता है। इन्हीं तीनों प्रकार के भावों के संयोग से मानव हृदय में वासना रूप से स्थित रत्यादि स्थायी भाव पुष्ट होकर श ंगारादि रसों के रूप में परिणत हो जाता है। उदाहरणतः कण्वाश्रम में शकुन्तला को देखकर दुष्यन्त के हृदय में 'रति' भाव व्यक्त होकर श ंगार रस के रूप में परिणत हो जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि दुष्यन्त के 'रति' स्थायी भाव को श ंगार रस में परिणत करने का प्रमुख साधन शकुन्तला है, शकुन्तला की चेष्टाएँ, उस स्थान का वातावरण इत्यादि इसमें सहायक हैं। ये दोनों **विभाव** कहलाते हैं। शकुन्तला आलम्बन विभाव हैं प्रमुख साधन होने के कारण। देश, कालादि उद्दीपन विभाव हैं सहायक होने के कारण। तत्पश्चात् दुष्यन्त के मन में 'रति' का अनुभव होने से उसके शरीर में कई चिह्न उत्पन्न होते हैं, उसका चेहरा खिल उठता है, भुजा फड़कने लगती है, आँखे बार-बार शकुन्तला की ओर उठती हैं। ये सभी चेष्टाएँ 'अनुभाव' कहलाती हैं क्योंकि ये चेष्टाएँ 'रति' की भावानुभूति के पश्चात् होती हैं। शकुन्तला के प्रति 'रति' भाव उद्बुद्ध होने के बाद दुष्यन्त के मन में निराशा, चिन्ता, हर्ष, आशा, उत्सुकता आदि भावों का स चरण होता है। ये सभी स चारिभाव या व्यभिचारिभाव कहलाते हैं। ये ३३ स चारिभाव स्थायी भाव में उसी प्रकार अवस्थित रहते हैं, जिस प्रकार समुद्र में लहरें। ये लहरों की तरह ही क्षणिक उदय और क्षणिक अवसान से युक्त होते हैं। इस प्रकार इन विभावादि के द्वारा मानव हृदय में संस्कार रूप में स्थित रत्यादि स्थायिभाव श ंगारादि रस के रूप में परिणत हो जाते हैं। ये श ंगारादि रस संख्या में कितने हैं? इस विषय में नाट्यशास्त्रियों में अनेक विरोधी मान्यताएँ हैं। भरतमुनि आठ रस मानते हैं- श ंगार, हास्य, करूण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स और अद्भुत। अभिनवगुप्त तथा पण्डितराज जगन्नाथ इनमें शान्त को मिलाकर नौ रस स्वीकार करते हैं। रूद्रट इन नौ रसों में प्रेयान् तथा विश्वनाथ वत्सल रस को मिलाकर दश रस स्वीकारते हैं। भक्तिवादी आचार्य रूपगोस्वामी और उनके अनुयायी एकमात्र भक्ति रस की सत्ता स्वीकार करते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि नाट्य में भरतमुनि सम्मत आठ रसों की सत्ता तो प्रायः सभी आचार्य निर्विरोध रूप से स्वीकार करते हैं। नाट्य में इन रसों के अङ्गाङ्गिभाव के विषय में आनन्दवर्धन का स्पष्ट कथन है कि प्रबन्धों में अनेक रसों के विद्यमान रहने के कारण किसी एक रस को अड्.गी बनाकर अन्य रसों का अङ्ग रूप में वर्णन किया जा सकता है।

रूपक मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं- मुख्य और गौण। मुख्य रूप से उनकी संज्ञा रूपक है और गौण रूप से उपरूपक। इनमें अभिनय-प्रधान रूपक को 'रूपक' और न त्य-प्रधान रूपक को 'उपरूपक' या 'न त्यरूपक' कहते हैं। नाटय-शास्त्र में रूपक के दस भेद बताये गये हैं- नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, वीथी, प्रहसन, डिम, ईहाम ग और अङ्क। इनके अतिरिक्त भरत ने नाटक और प्रकरण के मिश्रण से रूपक के एक अन्य प्रकार 'नाटी' का उल्लेख किया है, जिसे परवर्त्ती काल में 'नाटिका' संज्ञा प्राप्त हुई। धन जय ने दस रूपकों का और रामचन्द्र-गुणचन्द्र के बारह रूपकों का निरूपण किया है। अब यहाँ हम रूपक-भेदों की विवेचना करेंगे।

रूपक

नाटक

नाटक का इतिव त्त प्रख्यात होना चाहिए, कल्पित नहीं। उसका नायक प्रख्यात एवं उदात्त कोई राजा, राजर्षि अथवा दिव्य पुरूष होना चाहिए। उदात्त पद उपलक्षण मात्र है। उदात्त पद से यहाँ धीरोदात्त, धीरललित, धीरोद्धत एवं धीरप्रशान्त चारों प्रकार के नायकों का ग्रहण होता है अर्थात् नाटक में चारों प्रकार के नायक हो सकते हैं। श ंगार अथवा वीर ही अङ्गी रस हो सकता है। अन्य रसों की स्थिति अङ्ग रूप में होनी चाहिए। निर्वहण सन्धि में अद्‌भुत रस को उपयुक्त माना गया है। नाटक के इतिव त्त में पाँचों कार्यावस्थाओं, पाँचों अर्थप्रकृतियों और पाँचों सन्धियों, चौसठ सन्ध्यङ्गों तथा छत्तीस लक्षणों की योजना की जानी चाहिए। नाटक में अंक की योजना कार्य की अवस्थाओं के आधार पर होनी चाहिए। नाटक में पाँच से दस तक अंक हो सकते हैं। अंकों में नायक-नायिका आदि का चरित प्रत्यक्ष रूप में दिखाया जाता है। नाटक में अड्.क गोपुच्छाग्र के समान होना चाहिए। अंक के अन्त में सभी पात्रों का निष्क्रमण दिखाना चाहिए। नाटक में सुख-दुःख दोनों अवस्थाओं का चित्रण होना चाहिए।

शारदातनय के अनुसार सुबन्धु ने नाटक को पाँच वर्गो में विभाजित किया है- पूर्ण, प्रशान्त, भास्वर, ललित और समग्र। इनमें 'पूर्ण' नाटक में मुखादि पाँचों सन्धियाँ होती है। प्रशान्त नाटक में मुखादि पाँच सन्धियों के स्थान पर न्यास, न्याससमुद्‌भेद, बीजोक्ति, बीजदर्शन और अनुद्दिष्ट-संहार - ये पाँच सन्धियाँ होती है। इसमें शान्त रस की बहुलता होती है और सात्त्वती व त्ति का प्रयोग होता है। इसका उदाहरण 'स्वप्नवासवदत्तम्' है। त तीय 'भास्वर' नाटक में माला, नायकसिद्धि, अंकग्लानि, परिक्षय और मात्रावशिष्ट-संहार - ये पाँच सन्धियाँ हैं। इसमें वीर एवं अद्‌भुत रस तथा भारती व त्ति की प्रधानता होती है। इसका उदाहरण 'बालरामायण' है। चतुर्थ 'ललित' नाटक में विलास, विप्रलम्भ, विप्रयोग, विशोधन तथा उद्दिष्टार्थोपसंहार - ये पांच सन्धियाँ होती हैं। इसमें कौशिकी व त्ति होती है और यह श ड्.गार रस के आश्रित होता है। इसका उदाहरण 'विक्रमोर्वशीय' है। प चम 'समग्र' नामक नाटक में समस्त व त्तियाँ होती है और यह समस्त लक्षणों से युक्त होता है। यह 'महानाटक' होता है।

प्रकरण

जहाँ पर नेता (नायक), फल और इतिव त्त-विधान व्यस्त या समस्त रूप से कवि-कल्पित होते हैं, उसे 'प्रकरण' कहते हैं **(प्रकर्षेण क्रियते कल्प्यते नेता, फलं वस्तु वा व्यस्तसमस्ततयेति यत्र तत्प्रकरणम्)**। प्रकरण का रचना-विधान नाटक के समान होता है। इनका इतिव त्त कवि-कल्पित होता है। इसमें श ंङ्गार रस की योजना होती है। इसका नायक ब्राह्मण, वणिक् (वैश्य) अथवा अमात्य होता है। वह अनेक प्रकार की विपत्तियों एवं कठिनाईयों से ग्रस्त रहकर धर्म, अर्थ और काम (त्रिवर्ग) की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहता है। नायक के चेट, दास, विट आदि सहायक होते हैं। प्रकरण में नायिका दो प्रकार की होती है- कुलजा और गणिका। कहीं पर तो वह कुलजा (कुलीन स्त्री) नायिका होती है, कहीं पर गणिका नायिका होती है और कहीं पर दोनों अर्थात् कुलजा और गणिका दोनों नायिका होती हैं। इसमें मध्यम पात्रों द्वारा विष्कम्भक की योजना की जाती है। प्रकरण में नाटक के समान ही सन्धि, व त्ति, प्रवेशक, विष्कम्भक तथा रसादि की योजना की जानी चाहिए। 'म च्छकटिकम्' इसका उदाहरण है।

रसार्णवसुधाकर एवं भावप्रकाशन में प्रकरण के तीन भेद बताये गये हैं- शुद्ध, धूर्त्त और मिश्र। जब प्रकरण की नायिका कुलजा (कुलीन स्त्री) होती है तो 'शुद्ध' प्रकरण होता है। जैसे - मालतीमाधव।

और जब गणिका नायिका होती है तो 'धूर्त' प्रकरण होता है। जैसे - 'कामदत्ता'। इनके अतिरिक्त जब कुलजा एवं गणिका दोनों नायिकाएँ होती हैं तो 'मिश्र' प्रकरण कहलाता है। जैसे - 'म च्छकटिक'। धन जय के अनुसार प्रकरण के सड्.कीर्ण, धूर्त्त और सड्.कुल ये तीन भेद होते हैं। कुलस्त्री के नायिका होने पर 'सड्.कीर्ण' नामक भेद, गणिका के नायिका होने पर 'धूर्त्त' और दोनों के नायिका होने पर 'सड्.कुल' प्रकरण त तीय भेद होता है। नाट्यदर्पण के अनुसार वस्तु, नेता और फल की विभित्रता के आधार पर प्रकरण के सात भेद होते हैं। पुनः ये सात कुलजा, गणिका और दोनों (कुलजा-गणिका) इन तीन भेदों से इक्कीस प्रकार के होते हैं। इनके अतिरिक्त नायिका के कल्पित और अकल्पित आदि भी भेद से प्रकरण के और भेद हो सकते हैं।

भाण

भाण एकांक रूपक है। इसका इतिव त्त कल्पित होता है। जहाँ पर नायक विट या धूर्त आकाशभाषित के द्वारा अपने अथवा किसी दूसरे (गणिका आदि) के चरित का प्रकाशन करता है, उसे 'भाण' नामक रूपक कहते हैं **(भण्यते व्योमोकत्या नायकेन स्व-परव त्तं प्रकाश्यते त्रेति भाणः)**। इसमें शौर्य और सौभाग्य के वर्णन से श ंगार अथवा वीर रस की प्रधानता होती है। इसमें मुखसन्धि और निर्वहणसन्धि दो ही सन्धियाँ होती है और एक दिन में सम्पन्न होने से एक अंक का होता है। इसमें लोकानुर जन आवश्यक है। इसमें नायक उक्ति-प्रत्युक्ति के द्वारा आकाशभाषित करता है। आकाशभाषित होने से वाचिक अभिनय की प्रचुरता से भारती व त्ति की प्रधानता होती है। इसमें लास्य के दस अंगों की विशेष रूप से योजना की जाती है। लास्य के दस अंग इस प्रकार है-

(१) गेयपद, (२) स्थितपाठ्य (३) आसीन (४) पुष्पगण्डिका (५) प्रच्छेदक

(६) त्रिगूढ (७) सैन्धव (८) द्विगूढ (६) उत्तमोत्तमक और

(१०) उक्त-प्रत्युक्त। इसका उदाहरण 'कर्पूरचरितम्' है।

शारदातनय के अनुसार भाषा और कथावस्तु के आधार पर भाण के नौ भेद होते हैं। भाषा-भेद के कारण इसके तीन भेद होते हैं- शुद्ध, सड्.कीर्ण और चित्र। जिसमें केवल संस्कृत भाषा का प्रयोग किया जाता है वह 'शुद्ध' भाण कहलाता है। यदि सड्.कीर्ण भाषा का प्रयोग होता है तो 'सड्.कीर्ण' भेद होता है और यदि चित्र-विचित्र विभिन्न भाषाओं का प्रयोग होता है तो 'चित्र' भाण होता है। कथावस्तु के आधार पर प्रत्येक भाण के पुनः तीन भेद होते हैं- उद्धत, ललित और ललितोद्धत। इस प्रकार कुल नौ भेद होते हैं-

१ शुद्ध भाण के तीन भेद - उद्धत, ललित, ललितोद्धत।

२. सड्.कीर्ण के तीन भेद - उद्धत, ललित और ललितोद्धत।

३. चित्र भाण के तीन भेद - उद्धत, ललित और ललितोद्धत।

व्यायोग

व्यायोग एक युद्ध-विषयक महत्त्वपूर्ण रूपक है। जिसमें अनेक पुरूष चारों ओर से कार्य-सम्पादन के लिए प्रयत्न करते हैं, उसे 'व्यायोग' कहते हैं **(विशेषेण आ समन्तात् युज्यन्ते कार्यार्थ संरम्भन्ते त्रेति व्यायोगः)**। अथवा युद्धप्रायः जिस रूपक में अनेक पुरूष-पात्र युद्ध का प्रयोग करते हैं, उसे 'व्यायोग' कहते है **(व्यायामे युद्धप्राये नियुद्धयन्ते पुरुषा यत्रेति व्यायोगः)**। व्यायोग का इतिव त्त प्रख्यात होता है। इसमें नायक राजर्षि या देवता होता है। धन जय के अनुसार इसका नायक मनुष्य होता है। इसमें स्त्री -पात्रों की संख्या बहुत कम और पुरुष-पात्रों की संख्या अधिक होती है। व्यायोग में गर्भ और विमर्श सन्धियाँ नहीं होतीं। यह एक अंक वाला रूपक है। इसमें एक

दिन की घटना का चित्रण होता है। इसमें कलह एवं युद्ध का वर्णन होता है, किन्तु उसका निमित्त कोई स्त्री नहीं होती। इसमें कौशिकी व त्ति का प्रयोग नही होता। व्यायोग में श ृंगार और हास्य को छोड़कर शेष छः रसों का विनियोग होता है। इसमे युद्ध, नियुद्ध, आघर्षण और संघर्षण आदि का वर्णन होता है। 'मध्यम व्यायोग' इसका उदाहरण है।

समवकार

सङ्गत (मिले हुए) अथवा अवकीर्ण (बिखरे हुए) त्रिवर्ग के पूर्व प्रसिद्ध उपायों के द्वारा जिसका निबन्धन किया जाय, उसे 'समवकार' कहते हैं। **(सङ्गतैश्चावकीर्णैश्चार्थैः त्रिवर्गोपायैः पूर्वप्रसिद्धैरेव क्रियते निबध्यते इति समवकारः)**। धनिक के अनुसार जिसमें अनेक अर्थ-चित्र भलीभाँति निबद्ध किये जाते हैं, उसे समवकार कहते है **(समवकीर्य्यन्ते र्था इति समवकारः)**। समवकार का इतिव त्त इतिहास - प्रसिद्ध होता है। उदात्तचरित देव अथवा असुर इसके नायक होते हैं। इसमें विमर्शसन्धि को छोड़कर शेष सन्धियाँ होती हैं। इसमें वीर अथवा रौद्र रस प्रधान होते हैं। तीन दिन की घटना का वर्णन होने से इसमें तीन अंक होते है। इसके पहले अंक में मुख और प्रतिमुख सन्धि, दूसरे अंक में गर्भसन्धि और तीसरे अंक में निर्वहण सन्धि होती है। इसमें प्रथम अड्.क की घटना छः मुहूर्त्त बारह घटिका की, द्वितीय अंक की दो मुहूर्त्त चार घटिका और त तीय अंक की एक मुहूर्त दो घटिका की होती है। समवकार में बारह नायक होते हैं। उन सबके फल अलग-अलग होते है। इसमें तीन प्रकार के कपट, तीन प्रकार के श ङ्गार और तीन प्रकार के विद्रव होते है। श ङ्गार के तीन प्रकार होते हैं- धर्मश ङ्गार, अर्थश ङ्गार और कामश ङ्गार। धर्मश ङ्गार पति-पत्नी का, अर्थश ङ्गार वेश्यादि का अथवा कामश ङ्गार परस्त्री के संयोग से होता है। तीन प्रकार के कपट हैं- स्वाभाविक, कृत्रिम और दैवज। नाटयदर्पण के अनुसार कपट के तीन भेद इस प्रकार है- व च्योत्त्थ, व चकोत्त्थ और दैवोत्त्थ। इसी प्रकार विद्रव तीन प्रकार के होते है- चेतन (जीवोत्त्थ), अचेतन (अजीवोत्त्थ) तथा चेतनाचेतन (जीवाजीवोत्त्थ)। जिससे लोग डरकर पलायन कर जायें, उसे 'विद्रव' कहते हैं **(विद्रवन्ति त्रस्यन्ति जना अस्मादिति विद्रवो नर्थः)**। नाट्यशास्त्र के अनुसार कपटजन्य पलायन 'विद्रव' होता है। वह तीन प्रकार का होता है- चेतनजन्य, अचेतनजन्य और चेतनाचेतनजन्य। समवकार का उदाहरण 'अम तमन्थनम्' है।

डिम

डिम नाटक का निकटवर्त्ती रूपक हैं। अभिनवगुप्त ने 'डिम' को बिम्ब और विद्रव (उपद्रव) का पर्यायवाची माना है। 'डिम' शब्द **'डिम सङ्घाते'** धातु से निष्पत्र होने से सङ्घातार्थक है। **(डिमो बिम्बो विद्रवइति पर्यायाः। तद्योगादयं डिमः। डिमेः सङ्घातार्थत्वादिति)**। इसमें माया, इन्द्रजाल, संग्राम, सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण, उल्कापात, निर्धात, युद्ध, नियुद्ध आदि वर्णनों का तथा यक्ष, राक्षस, पिशाच, देवता, भूत, प्रेत आदि पात्रों का बाहुल्य रहता है।

डिम का इतिव त्त प्रख्यात (इतिहास-प्रसिद्ध) होता है। इसमें विमर्श सन्धि को छोड़कर शेष सन्धियाँ होती हैं और कैशिकी व त्ति को छोड़कर शेष तीन व त्तियाँ होती हैं। इसमें देवता, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, नाग, भूत, प्रेत, पिशाच आदि सोलह नायक होते हैं और वे सब उद्धत होते हैं। डिम में श ङ्गार एवं हास्य को छोड़कर शेष छः रसों की दीप्ति होती है। इसमें रौद्र रस अङ्गी (प्रधान) रस होता है। शेष रस अङ्ग रूप में चित्रित किये जाते हैं। इसमें चार दिन की घटनाओं का वर्णन होने से चार अङ्क होते है। प्रत्येक अङ्क में एक-एक सन्धि का नियोजन होता है। इसमें प्रवेशक एवं विष्कम्भक की योजना नहीं होती। शारदातनय के अनुसार इसमें प्रवेशक एवं विष्कम्भक का प्रयोग वर्जित नहीं है। डिम का उदाहरण 'त्रिपुरदाह' है।

अङ्क या उत्स ष्टिकाङ्क

अङ्क का द्वितीय नाम 'उत्स ष्टिकाङ्क' है। अभिनवगुप्त के अनुसार जिसमें शोकग्रस्त स्त्रियों का विशेष रूप से चित्रण होता है, उसे 'उत्स ष्टिकाङ्क' कहते हैं **(उत्क्रमणोन्मुखा स ष्टिर्जीवितं प्राणा यासां ता उत्स ष्टिकाः शोचन्त्यः स्त्रियः - ताभिरङ्कितात्वादुत्स ष्टिकाङ्कः)**। यह एक अङ्क का रूपक होता है। इसका नायक सामान्य पुरुष होता है। इसका इतिव त्त प्रख्यात (इतिहास - प्रसिद्ध) युद्ध पर आश्रित होता है, किन्तु कवि अपनी कल्पना से कथा का विस्तार करता है। इसमें मुख और निर्वहण दो सन्धियाँ होती हैं। इसमें भारती व त्ति की योजना होती है। इसका मुख्य (अंगी) रस करुण होता है । इसमें संघर्ष और युद्ध का वर्णन तथा स्त्रियों के विलाप का चित्रण होता है। इसमे वाग्युद्ध और निर्वेदप्रायः वाक्यों का बाहुल्य होता है। कोहल के अनुसार इसमें दो अंक हो सकते हैं। कुछ नाट्याचार्यो का कथन है कि अंक तो नाटकीय रूपक-प्रबन्धों का एक विभाग है, अतः इसका नाम 'उत्स ष्टिकाङ्क' ही उचित प्रतीत होता है। विश्वनाथ ने उत्स ष्टिकाङ्क का उदाहरण 'शर्मिष्ठा-ययाति' दिया है।

प्रहसन

यह एक हास्य-व्यङ्ग्यप्रधान रूपक है। जहाँ पर विट, चेट आदि के पाखण्डपूर्ण चरितों का उपहासात्मक चित्रण हो, उसे 'प्रहसन' कहते हैं **(प्रकर्षेण द श्यते विटादीनां चरितं यत्र तत् प्रहसनम्)**। प्रहसन का उद्देश्य सामाजिकों को पाखण्डियों एवं धूर्त्तो से विमुख करना है। प्रहसन के द्वारा पाखण्डी आदि के चरित को जानकर उसमें विमुख पुरुष पुनः उनके चंगुल मे नहीं आता **(प्रहसनेन हि पाखण्डिप्रभ तीनां चरितं विज्ञाय विमुखः पुरुषो न भूयस्तान् व चकानुपसर्पति)**। प्रहसन में इतिव त्त कवि-कल्पित और निन्द्य (अधम) पुरुषों का चरित होता है। इसमें सन्धि, सन्ध्यङ्ग, लास्याङ्ग और अङ्क की योजना भाण के समान होती है। इसमें आरभटी व त्ति, लास्याङ्ग और प्रवेशक नहीं होते। प्रहसन का प्रमुख (अङ्गी) रस हास्य होता है। इसमें वीथी के अङ्गों की योजना नहीं होती। इसमें अधम श्रेणी के पात्रों की धूर्तता का चित्रण होता है।

नाटयशास्त्र, अग्निपुराण एवं नाट्यदर्पण के अनुसार प्रहसन के दो भेद होते हैं- शुद्ध एवं सङ्कीर्ण। किन्तु दशरूपक के अनुसार तीन भेद होते हैं- शुद्ध, विकृत और सङ्कीर्ण। शुद्ध प्रहसन में निन्दनीय तपस्वी, ब्राह्मण एंव संन्यासियों में किसी एक को ध ष्ट नायक के रूप में चित्रित किया जाता है। इसमें विटों, चेटों एवं चेटियों के हास्योपयुक्त वेश-भूषा का चित्रण किया जाता है। विकृत प्रहसन में कामुकों, नपुंसकों, चारणों, क चुकियों आदि की वेश-भूषा तथा भाषा का अनुकरण किया जाता है। सङ्कीर्ण प्रहसन में बहुत से धूर्त आदि के चरित्रों का चित्रण होता है। कुछ नाटयाचार्यो के अनुसार जिसमें कई घ ष्ट नायकों का चरित्र-चित्रण रहता है और जो एक या दो अंकों में सम्पाद्य होता है, उसे 'सङ्कीर्ण' प्रहसन कहते हैं। भरत के अनुसार प्रहसन के दो भेद होते है- शुद्ध एवं सङ्कीर्ण। उन्होंने विकृत का सङ्कीर्ण में अन्तर्भाव माना है। सङ्कीर्ण प्रहसन में वीथ्यङ्गों का मिश्रण रहता है। इसमें हास्य के स्मित, हसित, विहसित, उपहसित, अपहसित, अतिहसित आदि सभी भेदों का सन्निवेश रहता है। सङ्कीर्ण प्रहसन का उदाहरण 'लटकमेलकम्' है।

ईहाम ग

जिसमें नायक म ग के समान एकमात्र स्त्री के लिए ईहा अर्थात् चेष्टा करता है उसे 'ईहाम ग' कहते हैं। **(ईहा चेष्टा म गस्येव स्त्रीमात्रार्था यत्र स ईहाम गः - अभिनवगुप्त)** अथवा जहाँ पर नायक म ग के समान अलभ्य नायिका को पाने की ईहा (कामना) करता है, उसे 'ईहाम ग' कहते है **(नायको म गवदलभ्यां नायिकामस्मिन्नीहते इतीहाम गः)**। ईहाम ग का इतिव त्त अंशतः प्रख्यात और अंशतः

कल्पित होता है अर्थात् मिश्रित होता है। ईहाम ग का नायक दिव्य अथवा प्रख्यात मानव होता है और वह दिव्य नारी की प्राप्ति के लिए संघर्ष करता है। इसमें एक दिन की घटना का वर्णन होने पर एक अंक होता है अथवा चार दिन की घटना का वर्णन होने पर चार अंक होते हैं। इसमें नायक और प्रतिनायक के सम्बन्ध में कोई नियम नहीं है। इसमें यदि देवता नायक होता है तो मनुष्य प्रतिनायक होता है और यदि मनुष्य नायक होता है तो देवता प्रतिनायक होता है। ईहाम ग में कुल बारह नायक होते हैं। इसमें दिव्यांगना के निमित्त इसमें संग्राम का वर्णन होता है। ईहाम ग में मुख, प्रतिमुख और निर्वहण सन्धियाँ होती हैं। इसमें कैशिकी को छोड़कर भारती, सात्त्वती एवं आरभटी, तीन व त्तियाँ होती हैं। विश्वनाथ के अनुसार इसमें देवता नायक होता है अथवा छः प्रतिनायक किसी दिव्यांगना के लिए संघर्ष करते हैं। इसमें वीर और रौद्र रस का अंगी (प्रधान) रस के रूप में निबन्धन किया जाता है। इसमें प्रतिनायक के अनुचित रति का वर्णन होता है। इसका उदाहरण 'रुक्मिणीहरणम्' है।

वीथी

वीथी का अर्थ है- गली या मार्ग। वीथी (गली) के समान टेढ़े-मेढ़े वक्रोक्ति-मार्ग से जाने से अथवा सन्ध्यङ्गों की पंक्ति होने से इसे 'वीथी' कहते हैं **(वक्रोक्तिमार्गेण गमनाद् वीथीव वीथी। यद्वा वीथी मार्गः, अंगानां पंक्तिर्वा)**। अथवा नाटकादि सभी रूपकों के उपयुक्त होने से त्रयोदश अंगों के प्रवेश के कारण वक्रोक्त्यादि चमत्कार से परिपूर्ण मार्ग-विशेष से लक्षित होने से इसे 'वीथी' कहते हैं। **(सर्वेषां रूपकाणां नाटकादीनां वक्रोक्त्यादिसंकुलत्रयोदशांगप्रवेशेनोपयोगिनी वैचित्र्यकारिका।)** कीथ ने वीथी का अर्थ 'माला' किया है। उनका कहना है कि इसमें कई रस 'माला' की तरह गुथें रहते हैं, इसलिए इसे 'वीथी' कहते हैं। वीथी कुछ बातों में भाण के समान है। इसमें आकाशभाषित का अधिक प्रयोग किया जाता है। इतिव त्त एकदिवसप्रयोज्य होने से इसमें एक अंक होता है इसमें एक या दो पात्र होते हैं। इसमें जब एक पात्र होता है तो आकाशभाषित शैली में और जब दो पात्र होते हैं तो उक्ति-प्रत्युक्ति शैली में कथोपकथन होता है। यह सभी रसों और तेरह अंगों से समन्वित होता है।

वीथी में उत्तम, मध्यम और अधम तीनों प्रकृति के नायक होते हैं। शङ्कुक ने अधम प्रकृति के पात्र को नायक के रूप में स्वीकार नहीं किया है। अभिनवगुप्त उनके मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि एक ओर तो शङ्कुक अधम प्रकृति के नायक का निषेध करते हैं और दूसरी ओर भाण, प्रहसन आदि में अधम प्रकृति के विट आदि को नायक बनाने का विधान करते हैं। अतः शङ्कुक का मत युक्तिसंगत नहीं है। नाट्यदर्पणकार अभिनव के मत का समर्थन करते हैं। वीथी में मुख और निर्वहण नामक दो सन्धियाँ और पाँचों अर्थप्रकृतियाँ होती हैं। श ङ्गार और हास्य रस के सूच्य होने के कारण इसमें कैशिकी व त्ति की योजना नहीं होती है, किन्तु धन जय, विश्वनाथ और शादरातनय इसमें श ङ्गार रस की प्रधानता स्वीकार करते है और कैशिकी व त्ति की योजना आवश्यक बताते हैं। 'सीताकल्याण' इसका उदाहरण है।

प्रकीर्ण-रूपक

नाटी या नाटिका

नाट्यशास्त्र में दस रूपकों के अतिरिक्त 'नाटी' नाम एक रूपक-भेद का उल्लेख है, जिसे परवर्त्ती काल में 'नाटिका' के नाम से अभिहित किया गया है। भरत के अनुसार 'नाटी' या 'नाटिका' नाटक और प्रकरण के मिश्रण से निर्मित होती है। इसका इतिव त्त प्रख्यात अथवा कवि कल्पित हो सकता है। परवर्त्ती आचार्यो के अनुसार इसका इतिव त्त प्रकरण के समान कवि-कल्पित होता है और

नायक नाटक के समान प्रख्यात और धीरललित होता है। उसकी नायिका न पवंशजा एवं मुग्धा होती है और दूसरी नायिका देवी या महारानी होती है। नाट्यदर्पण के अनुसार देवी और कन्या के प्रसिद्धि और अप्रसिद्धि के आधार पर नाटिका के चार भेद होते हैं

१ देवी प्रसिद्धा कन्या अप्रसिद्धा।

२. देवी प्रसिद्धा कन्या प्रसिद्धा।

३. देवी अप्रसिद्धा कन्या अप्रसिद्धा।

४. देवी अप्रसिद्धा कन्या प्रसिद्धा

नाट्यदर्पण के अनुसार नाटिका में चार अंक होते हैं। इसमें स्त्री-पात्रों की अधिकता होती है और श ंगार प्रधान (अंगी) रस होता है। कैशिकी व त्ति श ंगार के उपयुक्त है। कैशिकी व त्ति की प्रधानता होने से इसमें गीत, न त्य, वाद्य आदि की प्रचुरता रहती है। नाटिका के प्रत्येक अंक में कैशिकी व त्ति के चारों अंग नर्म, नर्मस्फि ज, नर्मस्फोट और नर्मगर्भ की योजना अपेक्षित है। इसमें अवमर्श सन्धि को छोड़कर शेष चार सन्धियाँ होती हैं।

प्रकरणी या प्रकरणिका

नाटिका के समान प्रकरणी या प्रकरणिका का भी उल्लेख कुछ आचार्यो ने रूपक के अन्तर्गत किया हैं। प्रकरणिका की रचना नाटिका के समान होती है। अन्तर केवल इतना है कि इसमें इतिव त्त कल्पित और नायक कोई ब्राह्मण या वणिक् होता है। इसमें नायिका नायक की सजातीय होती है। नाटक और प्रकरण में सारा व्यवहार नायक पर आश्रित होता है और नाटिका और प्रकरणिका में नायिका पर अवलम्बित होता है। धनिक ने प्रकरणिका को रूपक की स्वतन्त्र विधा के रूप में स्वीकार नहीं किया है।

नाटिका और प्रकरणिका ये दोनों ही नाटक एवं प्रकरण के साङ्कर्य से निष्पत्र होते हैं। इसलिए इन्हें सङ्कीर्ण रूपक-भेद कहा जाता है। धन जय केवल नाटिका को ही सङ्कीर्ण-भेद में परिगणित करते हैं और प्रकरणिका का इसी के अन्तर्भाव कर देते हैं।

नाट्यदर्पणकार ने नाटिका और प्रकरणी को स्वतन्त्र रूपक-भेद मानकर द्वादश रूपकों की परिकल्पना की है। भरत दस या ग्यारह रूपकों की कल्पना करते हैं, किन्तु भोज, हेमचन्द्र, रामचन्द्र-गुणचन्द्र, द्वादश रूपक मानते हैं। धन जय, विश्वनाथ आदि आचार्यो ने दस ही रूपक -भेद माने हैं। कुछ आचार्य सट्टक और त्रोटक को स्वतन्त्र रूपक मानकर रूपकों की संख्या बारह बताते हैं, किन्तु विश्वनाथ इन्हें उपरूपकों में परिगणित करते हैं।

उपरूपक

भरत ने रूपक के दस या ग्यारह भेद बताये हैं, किन्तु कोहलादि आचार्यो ने रूपकों के अतिरिक्त उपरूपकों की भी कल्पना की है। नाट्यशास्त्र में प्राप्त विवरणों से ज्ञात होता है कि कोहल उपरूपकों के जन्मदाता रहे हैं। कोहल के अनुसार प्राचीन काल मे उपरूपकों की दो परम्पराएँ प्रचलित रही हैं- साहित्यिक परम्परा और लोक परम्परा। साहित्यिक परम्परा में नाट्य रूपक के रूप में विकसित हुआ और लोकपरम्परा मे न त्य-गीतप्रधान उपरूपक के रूप में प्रसिद्ध हुआ। उनका कहना है कि जिस प्रकार नाटक और प्रकरण के लक्षणों के मिश्रण से 'नाटिका' होती है उसी प्रकार उक्त प्रयोगों के पारस्परिक सम्बन्ध के वैचित्र्य से तोटक, सट्टक, रासक आदि अनेक भेद हो सकते हैं। अभिनव के अनुसार रूपक अभिनय-प्रधान होते हैं और उपरूपक न त्य-गीत-प्रधान

होते हैं। इस प्रकार उपरूपकों का प्रदर्शन गीत एवं न त्याभिनयों के द्वारा किया जाता है। इसमें अभिनय की प्रधानता नहीं रहती। यह न त्य-गीतप्रधान होता है।

कोहल के आधार पर ही अभिनव ने डोम्बिका, भाण, प्रस्थान, भाणिका, षिद्‌गक (शिल्पक), रामाक्रीड, हल्लीसक और रासक - इन आठ प्रकार के न त्तात्मक रागकाव्यों का उल्लेख किया है, किन्तु इन्हें उपरूपक की संज्ञा नहीं दी है। दशरूपक के टीकाकार धनिक ने सात न त्य-भेदों (उपरूपकों) का निर्देश किया है- डोम्बी, श्रीगदित, भाण, भाणी, प्रस्थान, रासक और काव्य। भोज ने बारह रूपकों के समान बारह उपरूपकों का भी वर्णन किया है। उनके नाम है- श्रीगदित, दुर्मल्लिका, प्रस्थान, काव्य, भाण, भाणिका, गोष्ठी, हल्लीसक, नर्तक, प्रेक्षणक, रासक और नाट्यरासक।

अग्निपुराणकार ने सत्ताईस रूपकों का वर्णन किया है। इनमें दस रूपक की श्रेणी में आते हैं और शेष उपरूपक माने जाते हैं। उनके अनुसार १७ उपरूपक हैं- तोटक, नाटिका, सट्टक, शिल्पक, कर्ण, दुर्मल्लिका, प्रस्थान, भाणिका, भाणी, गोष्ठी, हल्लीसक, काव्य, श्रीगदित, नाट्यरासक, रासक, उल्लाप्यक और प्रेक्षणक। किन्तु अग्निपुराणकार ने इन्हें उपरूपक के नाम से अभिहित नही किया है। नाट्यदर्पण में बारह रूपकों के साथ बारह अन्य रूपकों का निर्देश किया है, जिन्हें उपरूपक कहा जा सकता है। उनके नाम है- सट्टक, श्रीगदित, दुर्मल्लिका, प्रस्थान, गोष्ठी, हल्लीसक, प्रेक्षणक, रासक, नाट्यरासक, काव्य, भाण और भाणिका।

शारदातनय ने भावप्रकाशन में बीस उपरूपकों का वर्णन किया है। - तोटक, नाटिका, गोष्ठी, संल्लापक, शिल्पक, डोम्बी, श्रीगदित, भाण, भाणिका, प्रस्थान, काव्य, प्रेङ्खण, रासक, नाट्यरासक, उल्लाप्यक, हल्लीसक, दुर्मल्लिका, मल्लिका, कल्पवल्ली और पारिजातक। भाव प्रकाशन में अन्य मतानुसार डोम्बी, श्रीगदित, भाण, भाणी, प्रस्थान, रासक तथा काव्य - इन सात न त्य - भेदों को भाण के समान बताया है और कुछ अन्य आचार्यो के मतानुसार बीसों को न त्यात्मक कहा है।

विश्वनाथ कविराज के उपरूपक के अठारह भेद माने हैं- नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाटयरासक, प्रस्थानक, उल्लाप्य, काव्य, प्रेङ्खण, रासक, संलापक, श्रीगदित, शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणिका, हल्लीस और भाणिका।

इस प्रकार उपरूपकों की संख्या के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद पाया जाता है। इन उपरूपकों में सट्टक और त्रोटक को कुछ आचार्यो ने रूपक के अन्तर्गत परिगणित किया है। भोज ने नाटिका और सट्टक को रूपक की श्रेणी में गिनकर बारह रूपकों की परिकल्पना की है। नाट्यदर्पणकार ने नाटिका और प्रकरणी (प्रकरणिका) को स्वतन्त्र रूपक मानकर रूपकों की संख्या बारह बतायी है। किन्तु विश्वनाथ ने इन्हें उपरूपकों के अन्तर्गत परिगणित किया है। अब उपरूपकों का संक्षेप में परिचय दिया जा रहा है-

नाटिका और प्रकरणी

इसका विवेचन पहले सङ्कीर्ण रूपक-भेद के अन्तर्गत किया जा चुका है।

त्रोटक या तोटक

‘त्रोटक’ को ‘तोटक’ भी कहते हैं। विश्वनाथ ने ‘त्रोटक’ और शारदातनय ने ‘तोटक’ का उल्लेख किया है। ‘त्रोटक’ शब्द न त्य तथा क्षुब्ध वाणी का द्योतक है। त्रोटक में पाँच, सात, आठ और नौ अंक भी होते हैं। इसमें देव और मनुष्य दोनों के जीवन में सम्बन्धित इतिव त्त की योजना होती है। इसके प्रत्येक अंक में विदूषक की उपस्थिति होने से इसमें श ंगार रस की प्रधानता होती है।

क्योंकि विदूषक श्ंगारी नायक का सहायक होता है। 'विक्रमोर्वशीय' पाँच अंकों का त्रोटक है। शारदातनय के अनुसार 'मेनका-नहुष' नौ अंकों का, 'मदलेखा' आठ अंकों का और 'स्तम्भितरम्भक' सात अंकों का 'त्रोटक' है।

सट्टक

सट्टक को अग्निपुराण में 'शाटक' कहा गया है। सट्टक नाटिका के समान होता है, किन्तु दो बातों में उससे भिन्न है। नाटिका में कई भाषाओं का प्रयोग होता है, जबकि सट्टक में एक ही भाषा प्राकृत का प्रयोग होता है। दूसरे सट्टक में प्रवेशक और विष्कम्भक दोनों नहीं होते। इसमें आदि से अन्त तक 'प्राकृत' भाषा का प्रयोग होता है। इसमें 'अद्भुत' रस का प्राचुर्य रहता है। इसमें अंक के स्थान पर 'जवनिका' का प्रयोग किया जाता है। इसका उदाहरण 'कर्पूरम जरी' है।

गोष्ठी

यह एकांकी उपरूपक है। इसमें एक अंक होता है और इसका कथानक कवि-कल्पित होता है। इसमें काम - श्ंगार का वर्णन होता है। गोष्ठी में नौ या दस साधारण श्रेणी के पुरुष-पात्र और पाँच - छः स्त्री-पात्र होते हैं। इसमें उदात्तवचन नहीं पाये जाते। इसमें कैशिकी व त्ति की प्रधानता रहती है और गर्भ एवं विमर्श सन्धियाँ इसमें नहीं होती हैं। इसका उदाहरण 'रैवतमदनिका' है।

रासक

यह एकांकी उपरूपक है। इसमें पाँच पात्र होते हैं। इसमें कैशिकी एवं भारती व त्तियाँ होती है और मुख एवं निर्वहण सन्धियों की योजना होती है। इसमें भाषा और विभाषा दोनों का बाहुल्य रहता है। इसमें सूत्रधार से रहित एक अंक होता है और वीथी के समस्त अंगों की योजना होती है। इसकी नायिका कोई प्रख्यात नारी होती है और नायक कोई मूर्ख पुरुष होता है। यह न त्य-गीतादि कलाओं से युक्त होता है। इसमें उत्तरोत्तर उदात्त भावों का विन्यास हुआ करता है। इसकी नान्दी श्लिष्ट होती है। कुछ आचार्य इसमें प्रतिमुख सन्धि का भी विधान आवश्यक मानते हैं।

अभिनवभारती के अनुसार रासक न त्यात्मक होता है। इसमें अनेक नर्तकियों की योजना होती है और चित्र-विचित्र ताल-लय से समन्वित होता है तथा मस ण एवं उद्धत होता है। भोज एवं रामचन्द्र-गुणचन्द्र के अनुसार रासक एक विशेष प्रकार का न त्य है, जिसमें सोलह, बारह या आठ स्त्रियाँ होती हैं, जो पिण्डीबन्ध आदि रूपों में न त्य करती है। इसमें न त्य की प्रधानता रहती है।

नाट्यरासक

नाट्यरासक एक अंक का होता है। इसमें ताल और लय की पर्याप्त स्थिति होती है। इसका नायक उदात्त प्रकृति का होता है और उसका सहायक पीठमर्द उपनायक होता है। इसमें श्ंगार - सहित हास्य रस प्रधान (अंगी) रस होता है। इसकी नायिका वासकसज्जा होती है। इसमें मुख और निर्वहण दो सन्धियाँ होती हैं और लास्य के दस अड्.ग इसमें विद्यमान रहते हैं। कुछ नाटयाचार्यो के अनुसार इसमें प्रतिमुखसन्धि नहीं होती।

भोज और शारदातनय के मतानुसार नाट्यरासक एक न त्य-प्रधान उपरूपक है। इसमें नर्तकियाँ नायक के चरित का न त्याभिनय करती है। पहले दो नर्तकियाँ प्रवेश करती हैं और न त्य प्रस्तुत कर लौट जाती हैं। बाद में पुनः नर्तकियाँ आती हैं और गीत, वाद्य के साथ न त्य प्रस्तुत करती हैं। वसन्त से सम्बद्ध होने के कारण इसे 'चर्चरी' भी कहते हैं। विश्वनाथ इसे अभिनयात्मक उपरूपक मानते हैं।

प्रस्थान या प्रस्थानक

प्रस्थानक का नायक कोई दास होता है और उसका उपनायक उससे भी हीन होता है। उसकी नायिका कोई दासी होती है। इसमें कैशिकी और भारती दो व त्तियाँ होती हैं। इसमें दो अंक होते हैं और ताल, लय आदि संगीतात्मक विलास प्रचुर मात्रा में होते हैं। इसमे उद्दिष्ट अर्थ (विषय) की समाप्ति मदिरापान के संयोग से होती है। धनिक के अनुसार प्रस्थानक एक न त्य-रूपक है। भोज एवं रामचन्द्र-गुणचन्द्र के अनुंसार प्रस्थानक में न त्य और संगीत प्रचुर मात्रा में होते हैं और प्रथमानुराग और श ंगार की स्थितियाँ प्रस्तुत की जाती है। इसमें प्रवास-विप्रलम्भ का भाव अनुबद्ध होता है।

उल्लाप्य या उल्लोप्यक

उल्लाप्य एकांकी उपरूपक हैं। कुछ आचार्यो के अनुसार इसमें तीन अंक होते हैं। उल्लाप्य का नायक उदात्त और इतिव त्त देवता - विषयक होता है। यह शिल्पक के सत्ताईस अंगों से युक्त होता है और इसमें हास्य, श ंगार और करुण रस की प्रधानता होती है। यह अनेक संग्रामों के वर्णन से युक्त और अस्रगीत (अन्तर्जवनिकागीत) से मनोहर होता है। इसमें चार नायिकाएँ होती है। इसका उदाहरण 'देवी-महादेव' है।

काव्य

काव्य आरभटी व त्ति से रहित एकांकी उपरूपक है। यह हास्यरस-प्रधान उपरूपक है। यह खण्डमात्रा, द्विपदिका, भग्नताल आदि विशेष गीतभेदों से पूर्ण एवं वर्णमाला छग्गणिका छन्दों से युक्त होता है। इसके नायक-नायिका धीरोदात्त तथा मुख और निर्वहण सन्धियाँ होती है। अभिनवगुप्त के अनुसार यह एक रागकाव्य है तथा न त्य - गीतप्रधान उपरूपक है। इसमें आदि के अन्त तक एक पात्र द्वारा एक ही इतिव त्त का श ंखलाबद्ध ग्रन्थन होता है। भोज और कोहल के अनुसार जहाँ पर राग और काव्य परिवर्त्तित होते रहते हैं, वहाँ 'चित्रकाव्य' होता है।

प्रेक्षणक या प्रेङ्खण

भोज, शारदातनय और रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने इसका नाम प्रेक्षणक दिया है और विश्वनाथ ने प्रेङ्खण नाम दिया है। भोज ने इसके दो भेद किये हैं- प्रेक्षणक और नर्त्तनक। शारदातनय ने प्रेक्षणक और नर्त्तनक का विवेचन एक ही 'शीर्षक' के अन्तर्गत किया है। उन्होंने शीर्षक में 'प्रेक्षणक' शब्द का प्रयोग किया है और लक्षण 'नर्त्तनक' का दिया है। उनके मतानुसार नर्तकी जब ललित लय के साथ पदार्थ अभिनय करती है तो उसे 'नर्त्तनक' कहते हैं। पुनः 'नर्त्तनक' उसे कहते हैं, जहाँ छलिक और समरथ्या से युक्त दो प्रकार का लास्य होता है और क्रमशः सुताल और चतुरस्र ताल का प्रयोग होता है। इसमें गर्भ और अवमर्श सन्धियों से रहित शेष सन्धियाँ होती है और सभी व त्तियाँ पायी जाती है। इसमें मागधी और शौरसेनी प्राकृतों का प्रयोग होता है और यह रस-भाव सहित होता है। इसमें नायक उत्तम और मध्यम प्रकृति के होते हैं। कुछ अन्य आचार्यो के मतानुसार इनमें दो ही सन्धियाँ होती है और नायक उत्तम और अधम प्रकृति के होते हैं। इसमें भारती और आरभटी व त्तियाँ होती हैं और कभी-कभी सात्त्वती व त्ति भी होती है। इसमें नान्दी-गायन नेपथ्य में होता है। अन्य मतानुसार इनमें गर्भ और अवमर्श सन्धियाँ और चारों व त्तियाँ होती है। इसमें सूत्रधार नहीं होता है।

विश्वनाथ के मतानुसार प्रेङ्खण में नायक अधम (नीच) प्रकृति का होता है और गर्भ एवं विमर्श सन्धियाँ नही रहती। इसमें एक अङ्क होता है और सूत्रधार, विष्कम्भक एवं प्रवेशक की योजना

नहीं होती। इसमें द्वन्द्वयुद्ध और सरोष-भाषण की योजना आवश्यक है और सभी व त्तियाँ पायी जाती है। इसमें नेपथ्य में ही नान्दी-गायन और प्ररोचना की योजना होती है। इसका उदाहरण 'बालिवध' है।

संलापक या सल्लापक

विश्वनाथ के अनुसार संलापक में तीन या चार अंक होते हैं। इसका नायक पाखण्डी होता है और इसमें श्रृंगार एवं करूण रस को छोड़कर कोई एक रस अंगी (प्रधान) रस होता है। इसमें नगरावरोध, छल, संग्राम, विद्रव आदि का वर्णन होता है। इसमें भारती और कैशिकी व त्तियाँ नहीं होती। शारदातनय के अनुसार इसका इतिव त्त प्रख्यात, कवि-कल्पित अथवा मिश्रित हो सकता है। उनके मतानुसार इसमें तीन अंक होते हैं। इसका उदाहरण 'मायाकापालिक' है।

श्रीगदित

श्रीगदित एकांकी उपरूपक है। इसका इतिव त्त प्रख्यात होता है। इसका नायक प्रख्यात और धीरोदात्त होता है। इसकी नायिका भी प्रख्यात होती है। इसमें गर्भ और विमर्श को छोड़कर शेष सन्धियाँ होती हैं। इसमें भारती व त्ति का बाहुल्य पाया जाता है और 'श्री' शब्द का प्रचुर मात्रा में प्रयोग पाया जाता है, इसलिए इसे 'श्रीगदित' कहते हैं। भोज एवं शारदातनय ने भी यही लक्षण दिया है। सागरनन्दी के अनुसार श्रीगदित में विरहिणी नायिका करुण-भाव से गायन करती है।

विश्वनाथ ने अन्य मतानुसार एक दूसरे प्रकार के श्रीगदित का भी लक्षण दिया है। तदनुसार 'श्री' वेषधारिणी नटी रङ्गम च पर बैठकर कुछ गाती हुई तथा पद पढ़ती हुई दिखायी जाती है। इसमें एक अंक होता है और भारती व त्ति की प्रचुरता रहती है। शारदातनय ने श्रीगदित का उदाहरण 'रामानन्द' दिया है।

शिल्पक

शिल्पक चार अङ्कों का उपरूपक है। इसका नायक ब्राह्मण और उपनायक अधम प्रकृति का होता है। इसमें श्मशान आदि का वर्णन रहता है। इसमें शान्त और हास्य रस को छोड़कर अन्य रस होते हैं और इसमें चारों व त्तियाँ होती हैं। शिल्पक के सत्ताईस अङ्ग होते हैं- आशंसा, तर्क, सन्देह, ताप, उद्वेग, प्रसक्ति, प्रयत्न, ग्रथन, उत्कण्ठा, अवहित्था, प्रतिपत्ति, विलास, आलस्य, वाष्प, प्रहर्ष, आश्वास, मूढता, साधनानुगम, उच्छ्वास, विस्मय, प्राप्ति, लाभ, विस्म ति, सम्फेट, वैशारद्य, प्रबोधन और चमत्कृति।

विलासिका

विलासिका एकांकी उपरूपक है। इसमें विदूषक, विट, पीठमर्द आदि का चरित चित्रित होता है। इसमें श्रृंगाररस का प्रधानता रहती है। गर्भ और विमर्श को छोड़कर शेष तीन सन्धियाँ होती हैं। इसका नायक हीन-गुणों से युक्त होता है। इसमें लास्य के दस अंगों की योजना होती है। इसमें वेश-भूषा पर विशेष ध्यान रखा जाता है।

दुर्मल्लिका या दुर्मल्ली

अग्निपुराण में 'दुर्मल्ली' नाम प्राप्त होता है। दुर्मल्लिका में चार अंक होते हैं। इसका प्रथम अड्.क तीन नाडिका (छः घड़ी) का और विट की विविध क्रीड़ाओं से युक्त होता है। द्वितीय अंक के अभिनय में पाँच नाडिका (दस घड़ी) का समय लगता है और विदूषक की हास्य-लीलाओं से युक्त होता है। त तीय अंक छः नाडिका (बारह घड़ी) का और पीठमर्द की विलास-क्रीड़ाओं से पूर्ण होता है। चतुर्थ

अंक में दस नाडिका (बीस घड़ी) का समय लगता है और नागरिक -जनों की क्रीड़ाओं से युक्त होता है। इसमें कैशिकी और भारती व त्तियों की योजना होती है और नायक नीच प्रकृति का होता है। भोज के अनुसार दुर्मल्लिका में एक दूती नायक-नायिका के चौर्य-रति को रङ्गम च पर प्रकट करती है और दर्शकों से धन माँगती है।

हल्लीस या हल्लीसक

हल्लीस न त्य-प्रधान एकांकी उपरूपक है। इसमें मण्डलाकार न त्य होता है, जिसके मध्य में कृष्ण के समान एक नायक होता है, जिसको घेरकर नर्तकियाँ मण्डलाकार न त्य करती है और गाती है। विश्वनाथ के अनुसार हल्लीस में एक अंक होता है और सात, आठ या दस स्त्रीपात्र होते है। इसका नायक उदात्त होता है। इसमें कैशिकी व त्ति का प्राधान्य रहता है और मुख तथा निर्वहण सन्धियों की योजना होती है तथा इसमें अनेक प्रकार के ताल, लय, राग की स्थिति होती है। शारदातनय के अनुसार हल्लीस में दो अंक होते हैं और इसमें ललित, दक्षिण आदि पाँच - छः नायक होते हैं।

भाण

भाण न त्य-गीतप्रधान उपरूपक है, किन्तु मध्य में नायक गद्यांश का भी प्रयोग करता है। इसमें ललित, उद्धत एवं ललितोद्धत तीन प्रकार के न त्य का प्रयोग करता है। अभिनवगुप्त के अनुसार भाण में नर्तकी न सिंहावतार और वामनावतार के वर्णन का अभिनय करती है। नाट्यदर्पण के अनुसार भाण में हरि, हर, सूर्य, भवानी, स्कन्द और प्रमथाधिप की स्तुति निबद्ध रहती है। यह प्रायः उद्धत कारणों से युक्त एवं स्त्री-पात्रों से रहित होता है।

भाषा की द ष्टि से भाण के तीन भेद होते हैं- शुद्ध, संकीर्ण और चित्र। इतिव त्त के आधार पर भाण के तीन भेद होते हैं- ललित, उद्धत और ललितोद्धत।

भाणिका या भाणी

भाणिका एकांकी न त्यरूपक है। भाणिका में सुन्दर नेपथ्य-रचना होती है और मुख एवं निर्वहण सन्धियों की योजना होती है। इसमें कैशिकी और भारती व त्तियाँ होती है। इसमें नायिका उदात्त प्रकृति की कुलजा रमणी होती है और नायक नीच प्रकृति का होता है। इसके सात अंग होते हैं- उपन्यास, विन्यास, विबोध, साध्वस, समर्पण, निव त्ति और संहार। शारदातनय के अनुसार भाण ही सुकुमार प्रयोग के कारण भाणिका हो जाता है सागरनन्दी के अनुसार 'भाणी' में श ंगार रस की प्रधानता रहती है और इसमें दसों लास्यांग होते हैं। विश्वनाथ ने भाणिका का उदाहरण 'कामदत्ता' दिया है।

डोम्बी

डोम्बी का लक्षण 'भाणिका' के समान है। विश्वनाथ ने 'भाणिका' का जो लक्षण दिया है शारदातनय ने वही लक्षण डोम्बी का दिया है। कुछ आचार्यो ने डोम्बी को ही भाणिका कहा है (डोम्ब्येय भाणिकोदात्तनायिकैकाङ्गभूषिता)। शारदातनय के अनुसार डोम्बी में एक अंक होता है और उसकी नायिका उदात्त होती है। इसमें कैशिकी और भारती व त्तियाँ होती है और वीर या श ंगार रस प्रधान (अंगी) रस होता है। इसका नायक नीच प्रकृति का होता है और सुन्दर नेपथ्य - रचना होती है। इसके सात अंक होते है- विन्यास, उपन्यास, विबोध, साध्वस, अनुव त्ति, समर्पण और संहार। इसका उदाहरण 'कामदत्ता' है।

मल्लिका

शारदातनय ने ही मल्लिका को उपरूपकों में परिगणित किया है। उनके अनुसार मल्लिका श ंगाररस - प्रधान उपरूपक है। इसमें एक या दो अंक होते है और कैशिकी व त्ति की योजना होती है। इसमें गर्भ और अवमर्श सन्धि को छोड़कर शेष तीन सन्धियाँ होती है। यह विदूषक तथा विट की विलास-क्रीड़ाओं से युक्त होता है। मल्लिका वस्तुतः दुर्मल्लिका ही है।

कल्पवल्ली

शारदातनय ने ही सर्वप्रथम 'कल्पवल्ली' को उपरूपकों में परिगणित किया है। कल्पवल्ली का नायक उदात्त और उपनायक पीठमर्द होता है। इसमें श ंगार या हास्य रस की प्रधानता होती है और कैशिकी व त्ति का निबन्धन होता है। इसमें मुख, प्रतिमुख और निर्वहण सन्धियों का समायोजन होता है। कल्पवल्ली की नायिका वासकसज्जा या अभिसारिका होती है। यह दस लास्यांगों से युक्त होता है।

पारिजातक

शारदातनय ने ही सर्वप्रथम 'पारिजातक' को उपरूपकों में परिगणित किया है। परिजातक एकांकी उपरूपक है। इसमें वीर या श ंगार रस की प्रधानता रहती है और मुख एवं निर्वहण दो सन्धियाँ होती है। इसका नायक दिव्य एवं उदात्त होता है और नायिका स्वकीया या गणिका होती है तथा कलहान्तरिता होती है। कभी-कभी इसमें विदूषक के हास-परिहास का भी निबन्धन होता है।

छालिक्य या छलिक

छलिक एक न त्य - प्रधान उपरूपक है। कालिदास ने मालविकाग्निमित्र में इस अभिनय को 'छलिक' नाम से अभिहित किया है। हरिवंशपुराण के अनुसार सर्वप्रथम इसका अभिनय देवों और ऋषियों ने किया, बाद में श्रीकृष्ण ने लोकहितार्थ इसे भूलोक में प्रसारित किया। श्रीकृष्ण ने गोपियों के साथ एक न त्य किया था, जिसे 'छालिक्य' न त्य कहा गया। आचार्यो ने इस उपरूपक नहीं माना है।

इस प्रकार रूपकों एवं उपरूपकों के रूप में नाट्यकला का विकास देखा जाता है नाटयकला का विकास न त्त, न त्य और संवाद के संयोग से हुआ है। यह प्राग्वैदिक काल से प्रारम्भ होता है और भरत के समय तक पूर्ण हो जाता है। भरत के नाट्यशास्त्र के रचनाकाल तक नाट्यकला के विकास का एक सुव्यवस्थित रूप निश्चित हो गया था, क्योंकि नाट्यशास्त्र में नाट्य के सभी तत्त्वों पर विचार किया गया है। किन्तु उसका विकास उतरोत्तर बढ़ता रहा है। नाट्यशास्त्र में स्वीकृत दस रूपक रङ्गम च पर विविध रूपों में अभिनीत किये जाने से विविध अवस्थाओं में से गुजरते हुए विश्वनाथ के समय तक दस रूपकों और अठारह उपरूपकों में विकसित हो गये थे। बाद में उन उपरूपकों की संख्या बाईस-तेईस तक पहुँच गयी। इस प्रकार अनेक विधाओं में रूपकों एवं उपरूकों का विकास होता रहा और उन्हें रङ्गम च पर अभिनीत किया जाता रहा और तदनुकूल उसके स्वरूप की शास्त्रीय व्याख्या भी होती रही है।

नाट्यकला का उद्गम

नाट्यशास्त्र के प्राचीन तथा अर्वाचीन सभी चिन्तकों ने नाट्य के उद्गम पर विचार, विश्लेषण एवं चिन्तन किया है। फलतः अनेक सिद्धान्तों व मान्यताओं का प्रवर्त्तन हुआ, अनेक पक्ष प्रस्तुत किये गये और उनकी सम्भावनाओं की परीक्षा की गई, किन्तु अद्यावधि कोई निर्भ्रान्त सिद्धान्त मान्य नहीं हो सका और न ऐसी सम्भावना ही द ष्टिगोचर होती है कि भविष्य में कोई निश्चित सिद्धान्त स्थापित किया जा सकेगा। कारण यह है कि भारतीय मनीषियों में इतिहास को सुरक्षित रखने की प्रव त्ति कभी नहीं रही है और नाट्य की दिशा में तो इस उपेक्षा की अधिकता ही पाई जाती है। शिलालेखों में कुछ न कुछ इतिहास अवश्य सुरक्षित रहता है किन्तु नाट्य की उत्पत्ति के विषय में शिलालेख भी मौन है। ऐसी स्थिति में चिन्तन, विवेचन एवं अनुमान प्रमाण पर ही आधारित रहना पड़ता है। इस सन्दर्भ में नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में प्रतिपादित वेद एवं धर्ममूलक सिद्धान्तों के साथ साथ तत्सम्बन्धी अन्य मतों एवं वादों की भी समीक्षा कर निश्चित निष्कर्षो पर पहुँचने का प्रयास करेंगे।

नाट्योत्पत्ति में भारतीय परम्परा का मत

भारतीय परम्परा के अनुसार सभी शास्त्रीय विषयों का उद्गम वेदों से माना जाता है तथा उनका सम्बन्ध देवों से जोड़ा जाता है। सम्भव है कि दैवी शक्तियों के आशीर्वादों की परिकल्पना अथवा उनकी पवित्रता प्रमाणित करने के लिए उसका सम्बन्ध देवों से स्थापित किया जाता है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई महत्त्व प्रतीत नहीं होता है। नाट्यशास्त्र में उपलब्ध नाट्योत्पत्ति का इतिहास सम्भवतः विश्व में प्राप्त नाट्यकला के उद्गम का सर्वाधिक प्राचीन विवरण है।

नाट्यशास्त्र के अनुसार वैवस्वत मन्वन्तर के त्रेतायुग के प्रारम्भ में जब लोग काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या एवं सुख-दुःखादि से अभिभूत हो गये थे। उस समय इन्द्र आदि देवों ने ब्रह्मा के पास जाकर कहा ''हे भगवन्! हम लोग ऐसा क्रीड़नीयक (मनोर जन का साधन) चाहते हैं जो द श्य एवं श्रव्य दोनों हो।'' तब ब्रह्मा ने योग का आश्रय लेकर चारों वेदों का स्मरण करके यह संकल्प किया ''मैं इतिहास सहित एक ऐसे नाट्य नामक प चम वेद की रचना करता हूँ, जो धर्म, अर्थ एवं यश की प्राप्ति कराने वाला हो, उपदेश के योग्य हो, ज्ञान संग्रह से युक्त हो, भावी जगत् के लिए समस्त कर्मो का पथप्रदर्शक हो, समस्त शास्त्रों के अर्थो से युक्त हो तथा सभी शिल्पों (कलाओं) का प्रवर्त्तक हो।'' इस प्रकार विचार करके ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्ववेद से रसों को ग्रहण करके नाट्य नामक प चम वेद की सर्जना की, जो सभी वर्णो के लिए ज्ञेय था। भरत के व्याख्याकार अभिनवगुप्त उक्त कथन की पुष्टि करते हुए कहते हैं कि पाठ्य, गीत, अभिनय और रस-ये चारों नाट्य के प्रमुख तत्त्व हैं। ऋग्वेद त्रिस्वरप्रधान है। नाट्य के पाठ्य में भी तीन स्वरों का उपयोग होता है। अतः ऋग्वेद से पाठ्य को ग्रहण किया, जो नाट्य का प्रधान उपकारक तत्त्व है। सामवेद गीत्यात्मक है। गीति का पर्याय ही साम है । यजुर्वेद से याज्ञिक क्रियाओं में अध्वर्यु के द्वारा किए जाने वाले प्रदक्षिणाक्रम, लोहितोष्णीकधारण आदि अभिनयों का ग्रहण किया जाना स्वाभाविक है । अथर्ववेद से प्रशम, वेपथु आदि भावों से रसों का ग्रहण किया गया है। इस प्रकार नाट्य की वेदरूपता सिद्ध होती है।

नाट्य रचना के पश्चात् ब्रह्मा ने इन्द्र के अनुरोध पर भरतमुनि को नाट्य की शिक्षा देकर उन्हें अपने पुत्रों के साथ नाट्य का प्रयोग करने का आदेश दिया। तब भरतमुनि ने ब्रह्मा के आदेश से अपने

शतपुत्रों को नाट्य कला में शिक्षित करके भारती, सात्त्वती और आरभटी व त्तियों पर आश्रित अभिनय किया। तब ब्रह्मा ने उन्हें कैशिकी व त्ति के भी संयोजन का आदेश दिया किन्तु नारी पात्रों का अभाव होने से भरत ने कैशिकी व त्ति के संयोजन में असमर्थता प्रकट की। तब ब्रह्मा ने अप्सराओं का स जन करके उन्हें कैशिकी व त्ति के अभिनय का भार देकर भरत मुनि को सौंप दिया। उसके बाद भरत ने इन्द्रध्वज महोत्सव के शुभ अवसर पर **'दैत्य-दानव-नाशन'** नामक नाट्य प्रस्तुत किया, जिसमें दानवों के पराजित होने की कथा निबद्ध थी। इस प्रयोग को देखकर दैत्य-दानव क्रुद्ध होकर अभिनय में विध्न डालने लगे। तब ब्रह्मा ने दैत्य-दानवों को समझा-बुझा कर शान्त करने का प्रयास किया परन्तु वे शान्त न हुए। तब ब्रह्मा ने विश्वकर्मा को सर्वलक्षणसम्पन्न नाट्य-मण्डप को स जन करने का आदेश दिया और उन्होंने एक भव्य नाट्य मण्डप का निर्माण किया और नाट्यमण्डप की रक्षा के लिए देवताओं को नियुक्त किया। इसके बाद ब्रह्मा ने भरत को **'अम तमन्थन'** नामक समवकार दिखाने के लिए आदेश दिया। तब भरत ने हिमालय पर्वत के रमणीय रजतश्र ंग पर पूर्वरंग विधान के साथ 'अम तमन्थन' नाम समवकार का प्रदर्शन किया। यहीं पर शिव के आदेश से भरत ने **'त्रिपुरदाह'** नाम डिम का भी अभिनय किया। इस प्रयोग को देखकर शिव बहुत प्रसन्न हुए और भरत से कहा-''मैंने विभिन्न करणों एवं अंगहारों से युक्त न त्य का आविर्भाव किया है, उसे आप पूर्वरंग में संयोजित कीजिए।'' तब शिव के आदेश से तण्डु ने पूर्वरंग की शोभा की व द्धि के लिए अंगहारों का विधान किया। इसी अवसर पर शिव के अनुरोध पर पार्वती ने 'लास्य' (सुकुमार न त्य) का भी प्रदर्शन किया। इस प्रकार नाट्य में न त्त, गान एवं भाण्डवाद्य की योजना की गई।

नाट्योत्पत्ति की कथा का विस्तार नाट्यशास्त्र के अन्तिम अध्याय में भी मिलता है। इस सन्दर्भ में वहाँ पर दो कथाएँ वर्णित हैं। प्रथम कथा के अनुसार भरतपुत्रों को अपने अभिनय कौशल पर अभिमान हो गया था। अतः उन्होंने एक नाट्य-प्रदर्शन में मुनियों का अपमान कर दिया था। इस पर ऋषियों ने उन्हें शाप दे दिया कि नाट्य के अभिनेता शूद्र हो जाएँ और समाज में उन्हें प्रतिष्ठा न मिले। तब से नाट्य अभिनेता समाज में अच्छी द ष्टि से नहीं देखे जाते।

दूसरी कथा के अनुसार एक बार जब नहुष इन्द्र का पद पा गये तो स्वर्ग में उन्होंने अप्सराओं के द्वारा अभिनीत नाट्य-प्रयोग को देखकर कहा कि यह नाट्य प्रयोग भूलोक में हमारे घर पर भी अभिनीत होना चाहिए। तब देवताओं ने नहुष को समझाया कि ये अप्सराएँ मानव लोक में अभिनय नहीं कर सकती और उसे सलाह दी कि यह कार्य वह भरत और उनके पुत्रों द्वारा करा सकते हैं। तदनन्तर नहुष के अनुरोध पर भरत ने अपने पुत्रों को नाट्य प्रयोग के लिए भूतल पर भेजा । तब भरतपुत्रों ने मर्त्यलोक में आकर नहुष के अन्तःपुर में नाट्य का प्रदर्शन किया और कुछ दिन वहाँ ठहरकर नाट्यकला को भूलोक में प्रसारित किया।

कुछ विद्वान् नाट्य का उद्गम अनार्य जाति में सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। उनका कहना है कि नाट्य शास्त्र के अन्तिम अध्याय में उल्लिखित नहुष (न + हुत = हवन न करने वाला) अनार्य था। उसने नाट्य को स्वर्ग से म त्युलोक में लाने के लिए भरत को प्रेरित किया था तथा मुनियों द्वारा शप्त भरत पुत्रों द्वारा भूलोक में नाट्य का प्रदर्शन करवाया था। परन्तु यह मत पूर्णतः भ्रान्त हैं क्योंकि नहुष पुरूरवा का पौत्र और आयुष का पुत्र आर्य था।

ऐसा प्रतीत होता है कि नाट्यकला के उद्भव के कुछ दिन पश्चात् उसे गर्हित समझा जाने लगा था और अभिनेताओं को समाज में अच्छी द ष्टि से नहीं देखा जाता था क्योंकि **गौतमधर्मसूत्र** और **मनुस्म ति** में अभिनेताओं के साथ शूद्रवत् व्यवहार करने का विधान बताया गया है।

नन्दिकेश्वर के **अभिनयदर्पण** में भी नाट्योत्पत्ति की कथा कि चित् परिवर्तन के साथ नाट्यशास्त्र के अनुसार ही वर्णित है। नन्दिकेश्वर के अनुसार ब्रह्मा ने ऋक्, यजुः, साम और अथर्व से क्रमशः पाठ्य, अभिनय, गीत और रसों को ग्रहण करके नाट्यशास्त्र का स जन करके भरतमुनि को दिया। भरत ने गन्धर्व एवं अप्सराओं के साथ शिव के समक्ष उस नाट्य का प्रयोग प्रस्तुत किया।

शिव ने भरत के द्वारा प्रयुक्त उस अभिनय में उद्धत प्रयोगों को देखकर अपने गण तण्डु के द्वारा भरत को न त्य की शिक्षा दिलायी। तण्डु के द्वारा प्रयुक्त वह न त्य **'ताण्डव'** कहलाया। बाद में पार्वती ने बाणासुर की दुहिता उषा को **'लास्य'** (सुकुमार न त्य) में दीक्षित किया और उषा ने व्रजवासिनी गोपियों को 'लास्य' न त्य की शिक्षा दी। बाद में गोपियों द्वारा सौराष्ट्र की वनिताओं और सौराष्ट्र की वनिताओं द्वारा भिन्न-भिन्न प्रदेशों की युवतियों में प्रचलित हुआ। इस प्रकार परम्परा द्वारा यह नाट्यकला पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे बढ़ती रही और समस्त भूलोक में प्रतिष्ठित हो गई।

भावप्रकाशन के अनुसार नाट्यवेद की सर्जना का श्रेय शिव को प्राप्त है। तदनुसार शिव ने नाट्यवेद का स जन कर नन्दिकेश्वर को प्रदान किया। तब नन्दिकेश्वर ने ब्रह्मा को नाट्यवेद की शिक्षा दी। तब ब्रह्मा ने भरतों को नाट्यवेद की शिक्षा देकर भूलोक में प्रयोग एवं प्रसारित करने का आदेश दिया। इस प्रकार भावप्रकाशन के अनुसार नाट्यवेद का सम्बन्ध किसी एक भरत से न होकर अनेक भरतों से है और भूलोक में नाट्यावतरण का श्रेय नहुष को नहीं, अपितु मनु को प्राप्त है।

रसार्णवसुधाकर में नाट्यशास्त्रोक्त नाट्योत्पत्तिकथा का ही संक्षेप में उपब ंहण किया गया है। तदनुसार इन्द्र के अनुनय पर ब्रह्मा ने सार्ववर्णिक प चम वेद की रचना कर प्रयोग के लिए भरत को दिया। भरत के द्वारा प्रयुक्त नाट्य को शाण्डिल्य, दत्तिल, मतंग आदि आचार्यो ने भूतल पर प्रचारित किया। इस प्रकार रसार्णवसुधाकर के अनुसार नाट्य-सर्जना का श्रेय ब्रह्मा को प्राप्त है और भूतल पर प्रचारित करने का श्रेय शाण्डिल्य, दत्तिल आदि आचार्यो को है।

दशरूपक, नाटकलक्षणरत्नकोश, नाट्यदर्पण आदि ग्रन्थों में नाट्योत्पत्ति-विषयक विचारों में कोई मौलिकता द ष्टिगोचर नहीं होती। इनमें प्राप्त नाट्योत्पत्ति-विषयक विवरण भरतसम्मत ही प्राप्त होता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि भरत तथा अन्य नाट्याचार्य नाट्य के उद्गम का श्रेय ब्रह्मा को देते हैं तो **शारदातनय** द्वारा नाट्य का उद्गम शिव से मानने का क्या कारण हो सकता है। तार्किक द ष्टि से विचार करने पर शिव के द्वारा नाट्योद्गम का सिद्धान्त शाश्वत सिद्ध है। ताण्डव (उद्धत न त्त) एवं लास्य का सम्बन्ध क्रमशः शिव एवं पार्वती से रहा है। न त्य की योजना नाट्य में अनुपेक्षणीय है। नाट्य, न त्त और न त्य- ये परस्पर श्र ंखलित रहते हैं। नाट्य के उद्गम में शिव के नटराज रूप के योगदान की परिकल्पना जितनी समीचीन प्रतीत होती है उतनी लिंगरूप की नहीं । यद्यपि शिवलिंगपूजा की पद्धति अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही है, अतः शिव का लिंगरूप भी नाट्योद्गम में सहायक रहा हो, यह असम्भव नहीं प्रतीत होता। वैसे शिव का कोई भी रूप हो, चाहे वह लिंगरूप हो अथवा नटराज रूप हो, है तो दोनों शिव के रूप। अतः नाट्य के उद्गम एवं विकास में शिव के योगदान को नकारा नहीं जा सकता।

वस्तुतः सम्यग्द ष्टि से यदि देखा जाय तो नाट्य एवं न त्य के उद्भव का सम्बन्ध शिव से रहा है। वे अपने विविध रूपों के द्वारा नाट्य एवं न त्यकला को चतुर्दिक् मुखरित करते हैं। तभी तो इस

नाट्य की व्यापकता और भी आलोकित हो उठती है। अतः वैदिक एवं लौकिक भावभूमि के परिप्रेक्ष्य में शिव को नाट्यवेद का सर्जक मानना उचित ही प्रतीत होता है।

प्रायः सभी नाट्याचार्य नाट्यशास्त्र की सर्जना का श्रेय ब्रह्मा को देते हैं। यहाँ यह विचारणीय है कि आखिर ये ब्रह्मा है कौन? ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार स ष्टि-रचना करने वाले को ब्रह्मा कहा जाता है उसी प्रकार नाट्यवेद की रचना करने वाले को ब्रह्मा कहा जाने लगा होगा, जिसने मूल रूप में नाट्य, न त्त और न त्य की योजना कर नाट्यवेद का स जन किया होगा। बाद में अनेक अंगोपांगों के समावेश के साथ नाट्यवेद का पूर्ण विकास हुआ होगा और उसमें स्थानीय एवं सामाजिक तत्त्व भी सम्मिलित कर लिये गये होंगे। सम्भवतः वे ब्रह्मा भरत ही रहे होंगे और इसी आधार पर 'ब्रह्मभरत' मत की कल्पना कर ली गई होगी।

वेदों के संवाद सूक्तों से नाट्योत्पत्ति का मत

वेदों में अनेक ऐसे सूक्त पाए जाते हें जो प्रत्यक्षतः संवाद हैं। ये सूक्त संवाद सूक्त कहे जाते हैं। वेदों में कम से कम पन्द्रह सूक्त इस कोटि में आते हैं। इनमें से अधिकतर सूक्त विशेष महत्त्वयुक्त हैं। ऋग्वेद के दशम मण्डल के दशवें सूक्त में आदिम मिथुन यम-यमी वाद-विवाद में प्रव त्त होते हैं। इसी मण्डल का ६५ वें सूक्त में पुरूरवा तथा उर्वशी का संवाद है। ऋग्वेद के सप्तम मण्डल के १०० वें सूक्त में नेम भार्गव इन्द्र की स्तुति करता है। प्रथम मण्डल के १७६ वें सूक्त में अगस्त्य मुनि का अपनी पत्नी लोपामुद्रा तथा पुत्र के साथ प्रहेलिका रूप वार्त्तालाप विद्यमान है। दशम मण्डल के २८वें सूक्त में इन्द्र तथा वसुक्र का दुर्बोध कथनोपकथन उपलब्ध होता है। चतुर्थमण्डल के १८वें सूक्त में इन्द्र, अदिति तथा कामदेव का संवाद है। दशम मण्डल के ८६वें सूक्त में इन्द्र, उसकी पत्नी इन्द्राणी तथा व षाकपि का प्रसिद्ध वाद-विवाद है। इसी मण्डल के १०८ वें सूक्त में इन्द्र की दूती सरमा अपहृत गायों को खोजती हुई असुरों (पणियों) के पास जाती है तथा इनसे रोचक वाद-विवाद करती है। विश्वामित्र का नदियों का वार्त्तालाप त तीयमण्डल के ३३वें सूक्त में है। सप्तम मण्डल के ३३वें सूक्त में महर्षि वशिष्ठ का अपने पुत्रों के साथ वार्त्तालाप विद्यमान है। प्रथम मण्डल के १६५ वें तथा १७० वें सूक्त में इन्द्र का मरूतों के साथ वाद-विवाद है। चतुर्थ मण्डल के ४२ वें सूक्त में इन्द्र तथा वरूण का अपनी सापेक्ष श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए विवाद वर्णित है। अथर्ववेद में मात्र एक ही सूक्त इस शैलीयुक्त प्राप्त होता है । प चम मण्डल के ११वें सूक्त में ऋत्विक् गौ के लिए अथर्वा देवता से प्रार्थना करता है।

सन् १८६६ ई॰ में **मैक्समूलर** ने ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के १६५ वें सूक्त के विवरण के प्रसंग में कहा कि प्रस्तुत संवाद सूक्त का पाठ मरुतों की आराधना के किए गए यज्ञों के अवसर पर किया जाता था। अथवा दो दलों द्वारा इसका अभिनय किया जाता था। एक दल इन्द्र का प्रतिरूपण करता था तथा दूसरा मरूतों एवं उनके अनुयायियों का। सन् १८६० ई॰ में **प्रो॰ लेवी** (Levi) ने इस तर्क का अनुमोदन करके तथा वैदिककाल तक संगीत कला के पूर्ण विकास के पक्ष में ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के उद्धरण प्रस्तुत करके यह निष्कर्ष दिया कि ऋग्वेदीय काल में भी नाटकीय प्रदर्शनों की जानकारी थी। इस मत का तर्कसंगत परिणाम **प्रो० वान श्रेडर** (Van Schroeder) के श्रमपूर्ण निष्पादित सिद्धान्त में मिलता है। उनके अनुसार संवादात्मक सूक्त तथा कतिपय एकालाप वैदिक रहस्यों के अवशेष है। वैदिक धर्म देवताओं के नर्त्तक रूप से परिचित है तथा गीत-न त्य-नाटक में घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः यह माना जा सकता है कि वैदिक काल नाट्य से परिचित था।

वैदिक संवाद बीजरूप में रहस्यात्मक रूपक है- इस मत को **डा॰ हर्टेल** (Hartel) का स्वतन्त्र समर्थन प्राप्त है। उनके अनुसार वैदिक मन्त्र सदैव गाये जाते थे। गान में विभिन्न संभाषकों में

अपेक्षित भेद करना एक ही गायक के लिए सम्भव नहीं है। इसके लिए प्रयोक्ताओं के दो दल होना आवश्यक है। अतः ये सूक्त (संवाद सूक्त) नाट्यकला के आरम्भिक रूप को प्रस्तुत करते हैं। परन्तु यहाँ द्रष्टव्य है कि हम इस बात से पूर्णतः परिचित नहीं हैं कि ऋग्वेद में मन्त्र सदैव गाये जाते थे या नहीं। इसके विपरीत यह निश्चित है कि इन ऋचाओं का शंसन (पाठ) होता था। अतः हर्टेल द्वारा नाटकीय तत्त्व खोजने का यह प्रयास तर्क संगत नहीं है। **डॉ० हर्टेल** ने **''सुपर्णाध्याय''** में विस्त त पैमाने पर एक वास्तविक रूपक खोजने की कोशिश की है। यह एक विलक्षण और उत्तरकालीन वैदिक रचना है। अतः ऋग्वेद में अपने प्रारम्भिक रूप में द ष्टिगोचर होता हुआ वैदिक रूपक सुपर्णाध्याय में विकास मार्ग पर प्रतिष्ठित है।

यहाँ पर रूपक के विकास के लक्षण बताना तो युक्तियुक्त है परन्तु सुपर्णाध्याय में रूपक खोजने का प्रयास पूर्णतः असफल है। उसमें रंगम चीय निर्देशों की क्लिष्ट कल्पना, प्रायः कल्पना पर आधारित नाटकीयपात्रों की सूची के निर्माण तथा इस मत के आधार पर रचना के अनुवाद सम्बन्धी उलझनें विद्यमान है। यहाँ निश्चित रूप से **डॉ. हर्टेल** भ्रान्त है। इसके अतिरिक्त सुपर्णाध्याय में नाटकीय तत्त्व या उसके नाटकीय प्रयोग सम्बन्धी कोई संकेत भारतीय परम्परा में उपलब्ध नहीं है।

वेदों में उपलब्ध संवाद सूक्तों के सम्बन्ध में **प्रो. विन्डिश (Windisch), प्रो. ओल्डेनबर्ग (Oldenberg)** और **प्रो० पिशेल (Pischel)** का मानना है कि ये सूक्त महाकाव्य शैली की रचना के प्राचीन प्रकार का नमूना प्रस्तुत करते हैं। जिनमें उच्चतम भावों के तत्त्वों का निरूपण करने वाले पद्य परिरक्षित थे तथा पद्यों की श्र ंखला मिलाने के लिए रूढ़ि विहीन गद्य का प्रयोग था। इसके अतिरिक्त ये संवादात्मक सूक्त नाटकीय भी थे। इस प्रकार उपर्युक्त विद्वानों ने संस्कृत नाटक के गद्य-पद्य के संयोग की व्याख्या इस प्रारम्भिक साहित्य के अवशेष के रूप में की। **प्रो. गेल्डनर (Geldner)** ने पहले तो **ओल्डेनबर्ग** के मत का प्रश्रय दिया परन्तु बाद में इन संवाद सूक्तों की व्याख्या भावगीतों के रूप में करने का प्रयत्न किया है।

इस मत को स्वीकार करने में नितान्त वास्तविक कठिनाई यह है कि परम्परा में इन सूक्तों के इस वैशिष्ट्य की जानकारी के कोई लक्षण दिखाई नहीं देते और सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में वस्तुतः इस रूप में हमें कोई रचना प्राप्त नहीं होती। संस्कृत नाटक में गद्य तथा पद्य के मिश्रण का हेतु बताने के लिए इस मत का कोई उपयोग करना भी निःसन्देह अनावश्यक है। गद्य का प्रयोग किसी पक्ष पोषण अथवा व्याख्या की अपेक्षा नही रखता। जहाँ तक पद्य के प्रयोग का प्रश्न है तो उसका समाधान यह है कि वैदिक तथा परवर्ती युगों में उपासना के रूप में तथा मनोर जन के रूप में गीत (पद्य) का महत्त्व सर्वविदित है। इसके अतिरिक्त संस्कृत साहित्य में प्रत्येक वस्तु, विधि, ज्योतिष्, वास्तुशिल्प, अलंकार शास्त्र यहाँ तक कि दर्शनशास्त्र को छन्दोबद्ध करने की प्रव त्ति रही है। अतः प्रस्तुत मत समीचीन प्रतीत नहीं होता।

वैदिक कर्मकाण्ड में नाट्यतत्त्व सम्बन्धी मत

प्रो. वॉनश्रेडर के अनुसार वैदिक कर्मकाण्ड में ही नाटक के बीज अन्तर्निहित थे। कर्मकाण्ड में केवल गीतों का गान या देवताओं का स्तुतिपाठ ही सम्मिलित नही था अपितु उसके अन्तर्गत अनुष्ठानों का एक जटिल चक्र था। इन्हीं अनुष्ठानों में से कुछ में नाटकीय प्रदर्शन के तत्त्व विद्यमान हैं। अपने मत के समर्थन में वे सोमयज्ञ के लिए किए जाने वाले सोमक्रय की विधि में मिलने वाले एक रोचक द ष्टान्त को प्रस्तुत करते हैं। कतिपय विवरणों में सोमविक्रेता को अनुष्ठान की समाप्ति पर दाम से व चित किया गया है और पीटा गया है या ढेलों से मारा गया है। ऐसी दशा में यह

संदेह नहीं हो सकता कि यहाँ पर सोम व्यापार के निषेध का प्रतिबिम्ब नहीं बल्कि संरक्षक गन्धर्वो से सोम प्राप्त करने का नाटकीय व तान्त मिलता है। इस प्रकार दुर्व्यवहृत विक्रेता की भूमिका निभाने वाले शूद्र की मध्ययुगीन रहस्य रूपकों के प्रायः दुर्व्यवहृत शैतान के साथ की गई तुलना में कुछ सच्चाई है। परन्तु हमें अभिनय की मात्रा की अतिशयोक्ति नहीं करनी चाहिए।

वस्तुतः नाटक के अस्तित्व में आने की बात तभी कही जा सकती है जब अभिनेता आनन्दरूप उद्देश्य युक्त अभिनय करें। यदि कर्मकाण्ड में अभिनय के तत्त्वों का समावेश है तो उसका उद्देश्य अभिनय न होकर साक्षात् रूप से किसी धार्मिक या चमत्कारिक फल की प्राप्ति है। उदाहरणतः इन्द्र के दिव्याभिषेक पर आधारित किसी राज्याभिषेक के अनुष्ठान में नाटक का दर्शन करना हास्यास्पद है। इस अनुष्ठान के मूल में निहित धारणा यह थी कि राजा उतने समय के लिए इन्द्र रूप समझा जाता था।

वस्तुतः हमें मात्र एक आदिम नाटकीय कर्मकाण्ड मिलता है और कहा जा सकता है कि वह सारे वैदिक युग में लोकप्रिय था। उसी अनुष्ठान में एक विचित्र उपाख्यान की विशेषता पायी जाती है। इसमें एक दूसरे को भद्दी गाली देते हुए एक ब्राह्मण ब्रह्मचारी और एक गणिका का प्रवेश कराया जाता है। इस गाली का भी कर्मकाण्डपरक उद्देश्य है। इसका प्रयोग उर्वरता उत्पन्न करने के लिए किया गया है। परन्तु यहाँ मूलतत्त्वों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। अतः निश्चय ही कहा जा सकता है कि उस समय नाटक की जानकारी नहीं थी। यजुर्वेद में हमें हर सम्भव प्रकार का व्यवसाय करने वाले प्रत्येक वर्ग के व्यक्तियों की लम्बी सूची प्राप्त होती है परन्तु 'नट' शब्द अज्ञात है। केवल 'शैलूष' शब्द मिलता है परन्तु उसका अर्थ 'अभिनेता' होने में कोई प्रमाण नहीं है। उस शब्द का अर्थ गायक या नर्त्तक भी हो सकता है क्योंकि नर्त्तन तथा गान दोनों का उल्लेख बिल्कुल सान्निध्य में किया गया है।

प्रो॰ हिलब्रांड (Hillebrandt) तथा **प्रो॰ कोनो** (Konow) का आग्रह है कि ये अनुष्ठान वस्तुतः कर्मकाण्ड सम्बन्धी रूपक हैं। इन्हें कर्मकाण्ड ने तत्कालीन लोक-प्रचलित स्वाँग (वैशिकाभिनय) से ग्रहण किया है जिनमें संवाद, अश्लील कथनोपकथन तथा मुक्का-मुक्की का अवश्य प्रयोग होता रहा होगा परन्तु जिनके मुख्य अंग-न त्य, गीत एवं वाद्य थे। इस अनुमान के लिए अपेक्षित प्रमाण का सर्वथा अभाव है और यह अत्यन्त अर्थपूर्ण है कि वैदिक रचनाएँ 'नट' की उपेक्षा करती हैं जिसकी सक्रियता परवर्ती युग में पायी जाती है।

नाटक में प्रवेश करने वाले अन्य तत्त्वों में सें सामवेद के गान तथा समारोहों में किए जाने वाले न त्य है। यथा-महाव्रत के अवसर पर फसल के हेतु जल वर्षण तथा जनसमूह की सम द्धि प्राप्ति के लिए बालाएँ टोटके के रूप में आग के चारों ओर न त्य करती हैं। यहाँ द्रष्टव्य है कि इस प्रकार के न त्य किसी विशेष उद्देश्य से किए जाते हैं न कि अभिनय के लिए।

भारतीय नाट्यकला के सम्पूर्ण इतिहास में नाट्य के साथ न त्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है। शिव तथा विष्णु-कृष्ण पूजा में इसका महत्त्वपूर्ण भाग है। अतएव **प्रो॰ ओल्डेनबर्ग** ने इस सिद्धान्त का समर्थन किया कि नाट्य का उद्भव धार्मिक न त्य से हुआ है। स्वभावतः मूकनाट्य के स्वरूप वाले आङ्गिक अभिनय से सहचरित यह न त्य गीत से संयुक्त हुआ और बाद में संवाद सम्पन्न होकर नाट्य के उद्भव का कारण बना।

इतिहास काव्यों से नाट्य के उद्भव का सिद्धान्त

भारत के महान् इतिहास काव्य '**महाभारत**' से नाटक के किसी व्यक्त रूप में अस्तित्व का पता नहीं चलता। इसमें प्रयुक्त 'नट' शब्द केवल मूल-अभिनेता का वाचक हो सकता है। इसके अतिरिक्त

यदि **महर्षि वेदव्यास** को नाटक की जानकारी होती तो क्या वह उसकी किसी विशेषता अथवा विदूषक सद श स्थायीपात्र का कहीं पर भी उल्लेख न करते। **प्रो॰ हिलब्राण्ड** भी शान्तिपर्व के जिस स्थल पर नाट्यशिल्प का निर्देश बताते हैं, वह पूर्ण औचित्य के साथ मूक अभिनय पर लागू हो सकता हैं। यद्यपि 'महाभारत' के 'हरिवंश' में 'रामायण' के उपाख्यान से नाटक का निर्माण करने वाले नटों की जानकारी उपलब्ध होती है परन्तु 'हरिवंश' का समय अनिश्चित होने से इसका विशेष महत्त्व नहीं है। नाटक का पुराकालीन अस्तित्व सिद्ध करने में **'रामायण'** से भी कुछ सहायता नहीं मिलती।

यद्यपि इतिहास काव्यों को नाटक से परिचित नहीं कहा जा सकता तथापि इस बात का पर्याप्त साक्ष्य उपल्बध है कि उनके पाठ ने नाटक के विकास पर गम्भीर प्रभाव डाला। इन पाठों की अविच्छिन्न लोकप्रियता सम्पूर्ण साहित्य में प्रमाणित है। सातवीं शती के प्रारम्भ में कंबोडिया के राजपरिवार सम्बन्धी ब्राह्मण सोमशर्मा ने भारतीय सभ्यता की उस सुदूरवर्ती बाहरी चौकी के एक मन्दिर को सम्पूर्ण 'भारत' की एक प्रति भेंट की जिससे उसका निरन्तर पाठ होता रहे। साहित्य में उपलब्ध अन्य साक्ष्यों के साथ आधुनिक युग में भी मन्दिरों, गाँवों तथा सार्वजनिक स्थलों पर भी इन इतिहास काव्यों के पाठ के लिए कथावाचकों को बुलाया जाता है। इन कथावाचकों की एक मण्डली वाद्य के अनुसार न त्य तथा अनुकार्य पात्रों के भावों का आंगिक अभिनय करते हैं। यदि इसमें संवाद योजना भी कर दी जाए तो अविकसित नाटक का रूप प्राप्त हो जाता है।

'भरत' शब्द, जो बाद के ग्रन्थों में नट की एक संज्ञा है, नाटक के विकास के साथ महाकाव्य-पाठकों का सम्बन्ध प्रमाणित करता है। यह शब्द पाठकों के एक समुदाय के द्योतक 'भाट' के आधुनिक रूप में जीवित है। भरतों को भरतकुल सम्बन्धी होना चाहिए, जिनकी प्राचीन भारतीय इतिहास में बड़ी ख्याति है। महाभारत उसी भरतकुल का महान् इतिहास काव्य है जिसे उन्होंने सावधानी से सुरक्षित रखा है। इसमें संदेह नहीं है कि समय बीतने के साथ ही उन महाकाव्य पाठकों ने नाटक की अभिनयकला का काम अपने हाथों में ले लिया हो।

व्याकरण ग्रन्थों में नाट्यतत्त्व सम्बन्धी मत

पाणिनि ने **शिलालिन्** और **कृशाश्व** द्वारा रचित बताए जाने वाले नटसूत्रों का उल्लेख किया है। दुर्भाग्य से यहाँ भी हम पहले की तरह ही ऐसी स्थिति में नहीं हैं कि 'नट' का अर्थ निश्चित कर सकें। सम्भव है कि उसका अर्थ 'मूक अभिनेता' से अधिक कुछ न हो। पाणिनि के पास भी निश्चित रूप से 'नाटक' वाचक कोई शब्द नहीं है।

पत जलिकृत् महाभाष्य (१४० ई॰ लगभग) में नाटक के अस्तित्व के विषय अधिक सार्थक प्रमाण मिलता है। किसी व्यक्ति द्वारा स्वतः देखी गयी वस्तु के विषय में लड्. के प्रयोग को लक्ष्य करके पूर्ववर्ती **कात्यायन** द्वारा निर्धारित नियम की पत जलिकृत् आलोचना से विदित होता है कि उस समय में वाक्यों का इस प्रकार का व्यवहार प्रसामान्य था मानो वह घटना वक्ता की आँखों के सामने घटी हो। हम इसको किसी प्रकार के नाटकीय प्रयोग के पात्र के सम्बन्ध से ही समझ सकते हैं। इसी स्थल पर वर्णन कर्त्ताओं में सर्वप्रथम शोभनिकों का नाम आता है।

''ये तावदेते शोभनिका नामैते प्रत्यक्षं कंसं घातयन्ति प्रत्यक्षं बालिं बन्धयन्ति।''

— महाभाष्य ३/१/२

'शोभनिका' पद के साथ 'प्रत्यक्षं' पद का प्रयोग इस बात को स्पष्ट करता है कि यह कृत्य दर्शकों के सामने किया गया है। यहाँ हम अनुमान कर सकते हैं कि वे (शोभनिक) आंशिक अभिनय करते

थे। परन्तु यहाँ पर यह सूचित नहीं होता कि क्या वे संवादों का भी प्रयोग करते थे? बाद में चलकर शब्द के माध्यम का प्रयोग करने वाले ग्रंथिकों के सम्बन्ध में दिखाई देने वाला वैषम्य पर्याप्त रूप से स्पष्ट करता है कि वे शब्द प्रयोग के साथ ही आंगिक अभिनय भी करते थे।

वस्तुतः महाभाष्य में हमें ऐसे साक्ष्य का आभास मिलता है जिसमें नाटक के सभी तत्त्व विद्यमान थे। मूक नाट्च में अभिनय मिलता है। इसके अतिरिक्त हमें नटों के विषय में सूचना मिलती है जो केवल पाठ ही नहीं करते वरन् गाते भी हैं। उस समय उपयुक्त नेपथ्य रचना करके स्त्रियों का अभिनय करने वाले नट के लिए एक विशिष्ट शब्द प्रचलित था- **भ्रूकुंस।** प्रतीत होता है कि महाभाष्य काल में नारियों का नर्तकियों तथा गायिकाओं के अतिरिक्त रूप स्वीकृत नहीं है। बहुत सम्भव है कि नाट्यकला के शैशवकाल में स्त्रीपात्रों की भूमिकाएँ भी पुरूषों के लिए सुरक्षित थी। यद्यपि संस्कृत के अभिज्ञात नाटक में यह बात कदापि आवश्यक नहीं थी। अतः यह तो स्पष्ट सिद्ध नहीं होता कि महाभाष्य काल में नाटक वाचिक तथा आंगिक अभिनय सहित अपने पूर्ण रूप में विद्यमान था परन्तु नाटक के सभी तत्त्व उस समय विद्यमान थे, यह बात तर्कपूर्ण तथा औचित्ययुक्त है।

शैव सम्प्रदाय एवं नाट्योत्पत्ति

नाट्यशास्त्र में उपलब्ध व त्तों से ज्ञात होता है कि 'ताण्डव' और 'लास्य' न त्यों का सम्बन्ध क्रमशः 'शिव' और 'पार्वती' से रहा है। कहा जाता है कि एक समय सन्ध्याकाल में परमशिव शिव हिमालय के रमणीय रजतश्र ंग पर न त्त कर रहे थे कि आनन्दविभोर होकर पार्वती भी न त्य करने लगी। शिव का वह न त्य ताण्डव था और पार्वती का लास्य। **मालविकाग्निमित्र** में कहा गया है कि अर्द्धनारीश्वर शिव ने उमा से विवाह करके अपने ही अड्.ग में 'ताण्डव' और 'लास्य' को दो भागों में विभक्त कर दिया था। नाट्य एवं न त्य के उद्भव तथा विकास में भगवान् शिव 'नटराज' के रूप में विश्रुत रहे हैं। उनका यह नटराज रूप स ष्टि के आनन्दात्मक प्रक्रिया का प्रतीक है, स ष्टि चक्र आनन्दरूप है, नाट्य भी आनन्दरूप है, रस रूप है क्योंकि रससमुदाय ही नाट्य है। इस प्रकार नाट्य के उद्गम में शिव का दायित्व एक शाश्वत् सत्य है। शिव जनदेवता है और उन्होंने ही जन समाज के चित्त के अनुर जन के लिए नाट्य का अविष्कार किया था।

न त्यकला एवं नाट्योत्पत्ति

ओल्डेनबर्ग के अनुसार नाट्य के उद्गम का स्रोत धार्मिक न त्य है। उनके अनुसार आड्.गक अभिनय के साथ यह न त्य पहले गीत से संयुक्त हुआ होगा और बाद में संवाद से। नाट्य का उद्भव **मैक्डोनल** ने न त्य से माना है। पहले शिव ने न त्य का आविष्कार किया। बाद में जब न त्य में संवाद का समावेश हुआ होगा और न त्य ने नाट्य का रूप धारण कर लिया होगा। तब भरत शब्द नट के लिए प्रयुक्त होने लगा होगा। अतः न त्य से नाट्य का उद्गम मानने में कोई बाधा प्रतीत नहीं होती।

पुत्तलिका न त्यवाद

जर्मन विद्वान डा॰ पिशेल पुत्तलिका न त्य से नाट्य का उद्गम मानते हैं। उनके अनुसार पुत्तलिका न त्य सर्वप्रथम भारत में प्रचलित हुआ और यहीं से यूनान आदि देशों में पहुँचा। पुत्तलिका न त्य का प्राचीनतम विवरण हमें संस्कृत साहित्य में मिलता है। **कथासरित्सागर** के अनुसार **मयदानव** की पुत्री **सोमप्रभा** ने अपनी सहेली **कलिंगप्रभा** को ऐसी पुत्तलियाँ भेंट की थी जो बोल सकती थीं, न त्य कर सकती थीं, उड़ सकती थीं और जल, फूलमाला आदि ला सकती थीं। राजशेखर के

बालरामाण में कठपुतलियों का जो विवरण हमें प्राप्त होता है तदनुसार सीता के सद श बनायी गयी पुतली से रावण भी धोखा खा जाता है। पुतली के मुख में एक तोता रखा हुआ था जो रावण के प्रश्नों का उत्तर देता था। **शंकरपाण्डुरंग** के अनुसार कन्नड़ प्रदेश में इस प्रकार की रंगशालाएँ विद्यमान थी, जहाँ कठपुतलियों का न त्य दिखाया जाता था। ये पुत्तलियाँ कागज या काठ की बनी हुई होती थीं, जो खड़ी हो सकती थीं, लेट सकती थीं, दौड़ सकती थीं, नाच सकती थीं तथा लड़ भी सकती थीं। ये पुत्तलियाँ एक डोरे में बँधी होती थी, जिसे पकड़कर एक व्यक्ति नचाया करता था, जो सूत्रधार कहलाता था। **डा० पिशेल** ने भारतीय नाटकों के प्रसिद्ध पात्र 'सूत्रधार' को इसी क्रम से जोड़ते हुए माना है कि इसी के आधार पर नाटकों के प्रयोक्ता को 'सूत्रधार' कहा जाने लगा होगा क्योंकि नाटक का समस्त स चालन उसी के हाथ में रहता है। नाटक में प्रयुक्त **'स्थापक'** शब्द भी रड्.गम च पर पात्रों का लाकर व्यवस्थित करने वाले व्यक्ति के लिए प्रयुक्त होता होगा। अतः पुत्तलिका न त्य को नाट्य का उद्भव स्रोत मानने में कोई बाधा प्रतीत नहीं होती।

डा॰ पिशेल के पुत्तलिका न त्य से नाट्योद्गम के सिद्धान्त का खण्डन करते हुए **प्रो॰ हिलब्रांड** कहते हैं कि सूत्रधार शब्द का सम्बन्ध पुत्तलिका न त्य से नहीं जोड़ा जा सकता क्योंकि सूत्रधार नाटकीय कथावस्तु का संक्षेप में वर्णन करता है। इसलिए वह सूत्रधार कहलाता है न कि सूत्र को धारण करने से। इसके अतिरिक्त पुत्तलिका न त्य में सूत्रधार शब्द का प्रयोग बाद का है जबकि नाटक में सूत्रधार शब्द का प्रयोग सदियों पूर्व आ चुका थ। अतः पुत्तलिका न त्य को नाट्य के उद्गम को स्रोत नहीं माना जा सकता क्योंकि नाट्य की उत्पत्ति पुत्तलिका न त्य से बहुत पहले हो चुकी थी। पुत्तलिका शब्द के व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ से प्रतीत होता है कि यह शब्द बालकों के खिलौने के लिए प्रयुक्त होता रहा होगा। वहीं से वह पुत्तलिका न त्य के रूप में परिणत हो गया होगा।

छायानाटकवाद

नाट्यशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् **डा॰ ल्यूडर्स** एवं **कोनो** छायानाट्य से नाट्य का आरम्भ स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार प्राचीन काल में छायानाट्यों के अभिनय का संकेत मिलता है। **पात जल महाभाष्य** में नाटकों के प्रसड्.ग में शोभनिकों का नाम आया है। ये शोभनिक मूक अभिनय का प्रदर्शन करते थे। इन मूक छाया अभिनयों में यवनिका के पीछे उपस्थित पात्रों की मूकछायाओं के माध्यम से कथा का प्रदर्शन किया जाता था। इससे ज्ञात होता है कि नाट्य के पूर्व यह कला प्रचलित थी और कालान्तर में इसी से नाट्य का उद्भव हुआ। महाभारत में उल्लिखित **'रूपजीविन्'** तथा **वराहमिहिर** का **'रूपजीवी'** शब्द छाया नाट्य के अर्थ में प्रयुक्त माना जाता है किन्तु नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में छाया शैली के नाट्य का कोई विवरण उपलब्ध नहीं होता। **उत्तररामचरित** नाटक में सीता की छाया के प्रवेश का विवरण प्राप्त होता है। **रत्नावली, प्रबोधचन्द्रोदय** और **दशकुमारचरित** आदि ग्रन्थों में ऐन्द्रजालिक की क्रियाओं का वर्णन छाया नाट्य की ओर संकेत करता है। ऐन्द्रजालिक वस्तुतः छायानाट्यकार है परन्तु ये विवरण इतने परवर्ती हैं कि इन्हें नाट्य का उद्गम स्रोत स्वीकार नहीं किया जा सकता।

वीरपूजा और प्रेतात्मवाद

प्रो० रिज़वे का मत है कि नाट्य के उद्गम का मूल प्रेरक तत्त्व **'वीरपूजा'** है। वीरपुरूषों के प्रति आदरभाव प्रकट करने के लिए विविध अभिनयों के साथ उत्सव मनाया जाता था और इसी से नाट्य का उद्भव हुआ। प्रो॰ **रिज़वे** का कहना है कि प्राचीन काल में म तात्माओं (म तवीरपुरूषों)

की स्म ति में समय-समय पर सम्मान एवं शान्ति के लिए लोक न त्य, गायन, वादन आदि का अभिनय होता था। नर्त्तक वीणा और वंशी की गति पर न त्य करते थे। प्रो० **रिज़वे** के अनुसार इसी से नाट्य का आरम्भ हुआ होगा। परन्तु यह मत तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता क्योंकि प्रारम्भ से ही संस्कृत नाटकों के अभिनय उत्सवादि शुभ अवसरों पर किये जाते थे, अतः उक्त मत स्वीकार्य नहीं है।

लोकोत्सव एवं लोकन त्य

नाट्य के उद्गम में लोकपरम्पराओं एवं लोक न त्यों का विशेष महत्त्व है। लोकपरम्परा में रामलीला, कृष्णलीला, होलिकोत्सव, दुर्गापूजनमहोत्सव आदि परम्पराएँ धर्म से अनुप्रमाणित रही हैं। इन्हीं से नाट्य की प्रेरणा मिली होगी। प्रातः काल सुनहरे वस्त्र धारण किये, इठला-इठला कर न त्य करती हुई उषा का अभिनय, झूमती हुई हवाओं का नर्त्तन, चहकती हुई चिड़ियों का न त्य-संगीत, भ्रमरों के मधुर गु जार तथा केकाध्वनि के साथ मयूरों का नर्त्तन इत्यादि प्रकृतिवधू के मनोहारी हावों-भावों को देखकर स्वभावतः ही मनोमयूर न त्यरत हो जाता है। ऐसे प्राकृतिक, वातावरण से नाट्य एवं न त्य की उत्पत्ति हुई होगी। सर्वप्रथम उसका रूप लोकाभिनय एवं लोकन त्य का रहा होगा तथा बाद में संस्कृत-परिष्कृत होकर उसे शास्त्रीय रूप मिला होगा।

कुछ विद्वान् **इन्द्रध्वजोत्सव** से नाट्य की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं। इसी इन्द्रध्वजोत्सव के समान यूरोप में मई माह में मई दिवस के रूप में एक सामूहिक महोत्सव मनाया जाता था, जिसे **'मेपोल न त्य'** कहते थे। इस उत्सव में मई के प्रतीक के रूप में एक बाँस गाड़ा जाता था। जिसके चारों ओर स्त्रियाँ सजधज कर न त्य करती थी। यह एक लोकन त्य के रूप में प्रचलित था। विद्वानों की इन्द्रध्वजोत्सव से नाट्य की उत्पत्ति की धारणा के पीछे 'मेपोल न त्य' का प्रभाव परिलक्षित होता है। इसी प्रकार होलिकोत्सव के मूल में विष्णु द्वारा हिरण्यकशिपु के वध पर धर्म की विजय तथा अधर्म की पराजय का उल्लास ही प्रतीत होता है।

यूनानी नाटकों के प्रभाव का मत

जर्मन विद्वान् **डा. वेबर** ने प्रथमतः संस्कृत नाटकों पर यूनानी प्रभाव पड़ने की बात उठाई। इसका उत्तर **डा. पिशेल** ने इतना सयुक्तिक दिया कि कुछ दिनों तक इसकी चर्चा दब सी गई। पुनः **डॉ. विन्डिश** ने इस प्रश्न की विस्त त मीमांसा करके ग्रीक प्रभाव के स्वरूप को नई खोजों के आधार पर स्पष्ट करने का प्रयत्न किया। **डॉ. वेबर** का कहना है कि नाटक के उपादान प्राचीन संस्कृत में इतने अल्प हैं कि उनके आधार पर नाटक जैसी कमनीय कला का उदय नहीं हो सकता। सिकन्दर नाटकों का प्रेमी था। उसके दरबार में नाटकों का प्रचुर अभिनय होता था। इसी का प्रभाव संस्कृत नाटकों पर पड़ा। भारतीय प्रतिभा नवीन प्रभावों को आत्मसात् करने में नितान्त प्रवीण थी। अतः नाटकों का विकास स्वतः अपनी प्रतिभा के बल पर नहीं हुआ, प्रत्युत यूनानी नाटकों के अभिनय देखकर भारतीयों को इस दिशा में प्रेरणा मिली होगी। **डॉ. विन्डिश** का कहना है कि **'न्यू एटिक कॉमेडी'** भारतीय नाटकों पर यूनानी प्रभाव पड़ने का मूल स्रोत है। इस प्रकार के सुखान्त नाटकों में समाज का विस्त त चित्रण रहता हैं। ईसा की प्रथम तथा द्वितीय शताब्दी में रोम तथा भारत में बड़ा व्यापारिक सम्बन्ध था। उज्जयिनी में लिखित म च्छकटिक के ऊपर यूनानी नाटकों का प्रकृष्ट प्रभाव पड़ा है।

ये मत नितान्त भ्रामक हैं। **डॉ० विन्डिश** सम्मत **'न्यू एटिक कॉमेडी'** तथा संस्कृत नाटक का सम्पर्क और साद श्य वस्तुतः अत्यल्प है। रोमन (यूनानी) नाटकों के समान संस्कृत नाटकों में भी कथा का अंकों में विभाजन है जिसके अन्त में प्रत्येक पात्र का निर्गमन अनिवार्य होता है, परन्तु

यह विभाजन स्वतन्त्र रूप से सिद्ध हो सकता है। म च्छकटिक को कालिदास से पूर्ववर्ती रचना मानना अनुचित है। म च्छकटिक न तो इतना प्राचीन है और न ही उसके कथानक अथवा पात्र-विश्लेषण में कोई नवीनता है। भास का दरिद्र चारूदत्त ही म च्छकटिक का आधार है। अतः केवल इसी नाटक के आधार पर नाट्य पर यूनानी प्रभाव को स्वीकार कर लेना अनुचित है।

संस्कृत नाटकों में यवनी स्त्रियों का उल्लेख मिलता है। **'अभिज्ञान शाकुन्तल'** के द्वितीय अंक में वनमाला धारण करने वाली धनुर्धारिणी यवनियाँ राजा दुष्यन्त की परिचारिका के रूप में चित्रित की गई हैं। परन्तु इसके उल्लेख मात्र से ही संस्कृत नाटकों पर ग्रीक प्रभाव कथमपि स्वीकरणीय नहीं है। रोमन भौगोलिकों ने स्पष्ट लिखा है कि रोम और भारत में गहरा व्यापार होता था जिसमें शराब, गाने वाले लड़के तथा दासियाँ रोम से भेजी जाती थी। इन श्वेताड्.गी रोमन ललनाओं ने भारतीय राजाओं की द ष्टि को अपनी ओर आकृष्ट किया था। वे उन्हें दासी बनाकर महलों में रखते थे। इसी सामाजिक घटना के आधार पर संस्कृत नाटकों में यवनियों के उल्लेख को ग्रीक प्रभाव के समर्थन में तर्करूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता।

'जवनिका' या 'यवनिका' शब्द भी भारतीय रड्.गम च पर होने वाले परदे के लिए प्रयुक्त हुआ है। इस शब्द के आदिम अंश को लेकर उसी के आधार पर योरोपीय विद्वानों ने यह सिद्धान्त बना लिया है कि भारतीय नाट्य के विकास पर यूनानी नाट्य कला का प्रभाव पड़ा है किन्तु यह उनकी भ्रान्तिपूर्ण धारणा है।

सर्वप्रथम यह ध्यातव्य है कि 'जवनिका' शब्द भारतीय नाट्यशास्त्र का पारिभाषिक शब्द न होकर लोकव्यवहार में प्रयुक्त होने वाला साधारण शब्द है। **'अमरकोश'** में इसका प्रयोग 'पटवेश्म' (खेमा) को ढकने वाले परदे का अर्थ में किया है। प्राचीन काल में वस्त्रनिर्मित ग हों का वर्णन प्राप्त होता है। मल्लाह नाव की गति तीव्र करने के लिए मस्तूल (गोनधर) के ऊपर जिस कपड़े का परदा बाँधते हैं उसके लिये भी 'जवनिका' शब्द का प्रयोग कोशों में किया जाता है। इन दोनों विशिष्ट अर्थो का सामान्य रूप 'आच्छादन करना' है। अतः 'जवनिका' का सामान्य अर्थ हो गया- परदा, जो किसी वस्तु को ढककर उसे तिरोहित कर दे। 'जवनिका'- शब्द की व्युत्पत्ति 'जु' धातु से है। यह धातु पाठ में परिगणित न होकर **सूत्र ३/२/१५० (जु चङ्क्रम्य........)** में महर्षि पाणिनि द्वारा निर्दिष्ट है। इसका अर्थ है- गति तथा वेग। अतः 'जवनिका' का व्युत्पत्तिजन्य अर्थ होगा- वह आवरण, जिसमें लोग दौड़कर चले जायें अथवा वह वस्तु जो वेग सम्पन्न (गति युक्त) हो अर्थात् इधर-उधर हटाई जा सके। 'जवनी' तथा 'जवनिका' दोनों का एक ही अर्थ होता है। इन दोनों में 'जवनिका' शब्द 'जवनी' की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय है।

श्री गोवर्धनाचार्य ने अपनी विख्यात **'आर्यासप्तशती'** में 'जवनी' का प्रयोग परदे के अर्थ में शोभन प्रकार से किया है-

व्रीडाप्रसरः प्रथमं तदनु च रसभावपुष्टचेष्टेयम्।
जवनी विनिर्गमादनु नटीव दयिता मनो हरति।।

— (आ० स०, ५/३८)

नाट्यशास्त्र और दशरूपक सद श शास्त्रीय ग्रन्थों में 'जवनिका' शब्द का प्रयोग नाटकीय आवरण के लिए हुआ है। 'भर्त हरिशतक' तथा 'शिशुपालवध' जैसे काव्यग्रन्थों एवं 'हरिवंश' तथा 'भागवत' जैसे पुराणों में इस शब्द का प्रयोग सामान्य परदे के अर्थ में हुआ है। सर्वत्र जकारादि, 'जवनिका' शब्द का प्रयोग मिलता है न कि यकारादि 'यवनिका' शब्द का। अतः स्पष्ट है कि परदे के लिए उचित प्रयुक्त शब्द 'जवनिका' ही है, यवनिका नहीं।

इस प्रसंग में विचारणीय वस्तु यूनानी नाटकों में जवनिका का मूलतः अभाव भी है। यवन देश में नाट्य के लिए परदे का चलन नहीं था। वहाँ दर्शकों की संख्या इतनी अधिक होती थी कि उनकी सुगमता के लिए रड्.गम च बड़ा ऊँचा बनाया जाता था। नाटक का अभिनय खुले मैदान में होता था। उस पर किसी प्रकार का परदा नहीं होता था। जब यूनानी नाटकों को परदा ही नहीं था, तब भारतीय नाट्य पर उसके प्रभाव का प्रश्न ही नहीं उठता। इसके अतिरिक्त संस्कृत नाट्य यूनानी नाट्य से इतने मौलिक अंशों में भिन्न है कि उस पर बाहरी प्रभाव किसी प्रकार भी स्वीकार्य नहीं है।

(१) ग्रीक नाटकों के भेद हैं- सुखान्त नाटक (कॉमेडी) तथा दुःखान्त नाटक (ट्रेजिडी)। परन्तु भारतीय नाटक में इस वर्गीकरण का सर्वथा अभाव है। संस्कृत साहित्य में सामान्यतः दुःखान्त नाटक ही नहीं हैं।

(२) संस्कृत नाटकों का परिमाण दूसरे साहित्य के नाटकों से बहुत ही अधिक है। अकेला म च्छकटिक ग्रीक नाट्यकार एसकिलस के तीन नाटकों के बराबर है।

(३) संस्कृत नाटकों की अपनी विशेषता है संस्कृत तथा प्राकृत भाषाओं का मिश्रण। संस्कृत नाटक लोक व्यवहार को द ष्टि में रखकर निर्मित हुआ है। उस युग में सामान्य जनता के बीच में प्राकृत ही बोल-चाल की भाषा थी, परन्तु संस्कृत समझने की योग्यता प्रायः सबमें पायी जाती थी। नायक तथा उच्चवर्गीय पात्र संस्कृत का ही प्रयोग करते थे। परन्तु स्त्रियाँ तथा निम्नवर्गीय पुरूष पात्र बोलने में प्राकृत का ही प्रयोग करते थे। इस प्रकार यह आवश्यक भाषा-मिश्रण भी हमारे नाटकों का वैशिष्ट्य है।

(४) संस्कृत नाटकों के विभागों को 'अंक' कहते हैं। अंक की समाप्ति होने पर सब पात्रों का रंगमंच से चला जाना आवश्यक होता है। फ्रेंच नाटकों में भी यही प्रथा है। नाटक का अंकों में विभाजन एक नई वस्तु है जो ग्रीक नाटकों में उपलब्ध नहीं होती। पाश्चात्त्य रूपकों में अंकों का विभाग रोमन लोगों ने आविष्कृत किया। परन्तु कोई भी विद्वान् कालक्रम में पर्याप्त भिन्नता होने के कारण रोमन नाटकों का प्रभाव संस्कृत नाटकों पर नहीं मानता।

(५) विदूषक की कल्पना भी एक निराली वस्तु है। उसके जोड़ का पात्र ग्रीक नाटकों में नहीं है। वह नायक का मित्र होता है, दास नहीं। उसका कार्य केवल हास्यरस का उत्पादन ही नहीं है, प्रत्युत नायक को अनेक कार्यो में सहायता प्रदान करना है। मध्यकालीन यूरोपीय नाटकों में 'फूल' (मूर्ख) नामक एक पात्र अवश्यमेव प्रयुक्त होता था, परन्तु वह निरा हास्य का उपादान होता था। इसके विपरीत हमारा 'विदूषक' बड़े ही काम का पात्र है। वह मित्र होने के नाते नायक के प्रणय-कार्यो में ही सहायता नहीं पहुँचाता, प्रत्युत वह उसे अनेक विपत्तियों तथा विषम परिस्थितियों से भी बचाता है। भारतवर्ष के राजाओं में 'बहु विवाह' की प्रथा प्रचलित थी। ऐसी दशा में राजा अनेक रानियों के साथ व्यवहार की अनुकूलता में यदि कहीं चूकता था तो वह विदूषक से ही सहायता लेता था। फलतः हास्यरस का उत्पादक होने पर भी विदूषक हमारे नाटकों के लिए एक बहुत ही उपयोगी पात्र है।

(६) संस्कृत नाटकों का आख्यान नितान्त मौलिक तथा पूर्णतया भारतीय है। वह रामायण, महाभारत, पुराण तथा ब हत्कथा आदि के ऊपर आश्रित रहता है। उसमें किसी प्रकार की विदेशी कथाओं का मिश्रण नहीं दीख पड़ता। इतना होने पर भी नाटकों की कथाओं में मौलिकता के लिए भी पर्याप्त अवकाश है-नवीनता की काफी गुंजाइश है। प्रकरण तथा

प्रहसन आदि रूपकों की कथा कवि के द्वारा गढ़ी हुई रहती हैं। वह आँख मूँद कर प्राचीन कथाओं को ही नहीं लिखता, प्रत्युत वह अपनी परिस्थितियों की ओर भी द ष्टिपात करता है तथा अपने कथानक के लिए उन्हीं से सामग्री लेता है।

(७) **अन्वितित्रय का अभावः** यूनानी नाटकों में तीन प्रकार की अन्वितियाँ (यूनीटीज) पाई जाती हैं।

(क) ***स्थानान्वितिः*** समय घटनाएँ एक ही स्थान पर घटित होती हैं।

(ख) ***कालन्वितिः*** समय घटनाएँ एक ही काल में (एक ही दिन के भीतर) घटित हो जाती हैं।

(ग) ***कार्यान्वितिः*** समय घटनाओं का एक ही उद्देश्य तथा प्रयोजन होता है जिसका सम्पादन और निर्वाह विभिन्न घटनाओं के द्वारा सम्पन्न होता है। अरस्तू का यह अन्विति-त्रय (थ्री यूनिटीज) का सिद्धान्त यूरोपीय नाटककारों में सर्वथा मान्य था, विशेषतः फ्रेंच नाटककारों को। वहाँ भी इसका विरोध हुआ विशेषतः अंग्रेजी तथा स्पेनिश नाटककारों द्वारा परन्तु भारत में कार्यान्विति को छोड़कर, (जो नाटक में सर्वत्र उपादेय है), अन्य अन्वितियों का निर्वाह कथमपि नहीं होता। घटनाओं के लिए स्थानों का वैभिन्य है तथा काल का भी। उत्तररामचरित के प्रथम तथा द्वितीय अंकों मे मध्य बारह वर्ष का लम्बा काल व्यवधान-रूप से विद्यमान है। कार्यान्विति तो नितांत आवश्यक होती है और इसलिए उसका पूर्ण निर्वाह संस्कृत नाटकों में है। निर्वहण सन्धि में नाटक के भिन्न-भिन्न अंकों में प्रयुक्त घटनाओं का एक कार्य सम्पादन विशेष आवश्यक होता है।

(८) **कोरस का अभावः** यूनानी नाटकों में 'कोरस' का बड़ा ही विशिष्ट स्थान होता है। 'कोरस' का अर्थ एक साथ गाने तथा नाचने वाले पात्रों की टोली है। यदि भारतीय नाटककार यूनानी नाटकों से परिचय रखते, तो अवश्य ही वे भी कोरस को संस्कृत नाटकों में रखते, परन्तु ऐसा न होना यूनानी प्रभाव के अभाव का ही सूचक है।

(९) **रंगमंच की स्थितिः** यूनानी रंगमंच से भारतीय रंगमंच का अन्तर भी बहुत अधिक है। यूनान में नाटकों का अभिनय समस्त जनता के सामने होता था और इसलिए वे बाहर आकाश के नीचे खुली जगह पर किये जाते थे। उसके लिए किसी रंगशाला का निर्माण नहीं था, न कोई परदा था जिसके उठाने गिराने की प्रथा हो। पात्र जनता को आकृष्ट करने के लिए ऐसे साधन पहनते ये जिससे वे अपनी असली कद से बहुत ही ऊँचे दिखलाई पड़ते थे। परन्तु भारतीय नाटकों में ऐसा कभी नहीं होता था। आरम्भ काल से ही प्रेक्षाग ह या नाटयमण्डपों में ही रूपक खेले जाते थे। बाहरी मैदान में रूपकों का अभिनय अधिक नहीं होता था। माननीय राजाओं की राजधानियों में तो रंगशालायें होती ही थी जिनमें चुने हुए सभ्यों के सामने नाटक खेले जाते थे। बौद्ध जातकों से पता चलता है कि छोटे-छोटे नगरों में भी ऐसे पंचायती मकान बनाये जाते थे जो स्थानीय लोगों के लिए मन्त्रणाग ह का काम करते थे और साथ ही साथ उनमें प्रेक्षकगण भी कहीं बाहर से आकर अपनी कला का प्रदर्शन किया करते थे। सप्तम शती में दण्डी ने भी ऐसे जनपदीय सभाग हों के लिए 'प चवीर गोष्ठी' शब्द का प्रयोग किया है।

संस्कृत नाटकों की ये कतिपय विशेषताएँ हैं जिन पर द ष्टिपात करने से स्पष्ट हो जायेगा कि संस्कृत और यूनानी नाटकों में इतने मुख्य भेद हैं कि दोनों को स्वतन्त्र और एक दूसरे से अप्रभावित रचना मानना ही पूर्णतः न्यायसंगत प्रतीत होता है।

निष्कर्ष

भारतीय नाट्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विविध मत प्रचलित हैं। उनकी समीक्षा करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रारम्भ में मानव की क्रीड़ा एवं अनुकरण की स्वाभाविक प्रव त्ति ने ही नाट्यकला का जन्म दिया होगा। इसके मूल में प्राकृतिक वातावरण का प्रभाव अवश्य रहा होगा। बालक जब जन्म लेता है, तभी से उसमें अनुकरणात्मक प्रव त्ति सहज रूप से देखी जाती है। शनैः-शनैः उसमें उसकी अवस्थानुसार स्वाभाविक परिवर्तन होते हैं। युवावस्था में उसका स्वभाव उच्छृंखल हो जाता है, उसमें उन्माद का प्रवेश होता है। शारीरिक क्रियाओं एवं अड्गस चालनादि में भी नवीन स्फूर्ति का अविर्भाव होता है। वह स्वच्छन्द क्रीड़ा के लिए आतुर हो जाता है, बन्धनों से अरुचि हो जाती है। इसी स्वच्छन्दात्मक क्रीड़ा प्रव त्ति के कारण ही न त्य एवं संगीत का जन्म हुआ होगा। प्रारम्भिक न त्य मूक न त्य रहा होगा और कालान्तर में वह भावाभिनय के रूप में परिणत हो गया होगा। तत्पश्चात् अनुकरणात्मक प्रव त्ति के वशीभूत वह न त्य नाट्य पदवी को प्राप्त करने में समर्थ हुआ होगा। इस प्रकार न त्य, भाव तथा अभिनय के सम्मिलित रूप से नाट्य का जन्म हुआ होगा और बाद में उसमें गीत की योजना हुई होगी।

नाट्य का विकास

संस्कृत वाड्.मय में नाट्यकला का महत्वपूर्ण स्थान है। नाट्य के उद्गम का इतिहास मानव जीवन के इतिहास से सम्बद्ध है। मानव जीवन के प्रारम्भ में ही नाट्य का उद्गम हुआ और मानव जीवन के विकास के साथ ही विकसित होता गया। प्रागैतिहासिक मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा नामक स्थानों के उत्खनन से प्राप्त योगासन की मुद्रा में स्थित एक देवता की, नटराज शिव की और नर्तकी की कांस्य से निर्मित मूर्तियों की समीक्षा करने पर ज्ञात होता है कि उस समय अभिनय का पर्याप्त प्रचलन था और उसके साथ गीत एवं वाद्यों की संगत की जाती थी। इनके अतिरिक्त अन्य प्राप्त हुए अवशेषों से अनुमान किया जा सकता है कि धार्मिक और लौकिक समारोहों पर जनसाधारण के मनोरंजन के लिए अभिनय और न त्य का आयोजन किया जाता था।

वैदिक युग और नाट्य

वैदिक युग में नाट्यकला का विकसित एवं सम द्ध रूप द ष्टिगोचर होता है। उस समय न त्य एवं वाद्य का पर्याप्त प्रचलन था और उनके निर्वाहक कलाकार भी तीन प्रकार के होते थे - नर्त्तक, गायक और वादक। उस समय न त्य, गीत एवं वाद्य का विशेष आयोजन होता था। गीत के साथ वादन का निरन्तर साहचर्य रहा है। गीत और वाद्य के साथ न त्य का भी प्रचुर अस्तित्व विद्यमान है। ऋग्वेद में न त्यकला में कुशल तथा यौवनसम्पन्न नारी के समान उषा का आंगिक अभिनय मनोहारी बताया है। उसकी स्वर्णिम आभा देखकर वैदिक ऋषि को विभ्रम हो जाता है :-

अधि पेशांसि वपते न तूरिवापोर्णुते वक्ष उस्रेव बर्जहम्।
ज्योतिर्विश्वस्मै भुवनाय कृण्वती गावो न व्रजं व्युपा आवर्तमः।। ऋ०१/६१/४

उस समय न त्य एवं अन्य कलाओं का आयोजन खुले प्रांगण में होता था। नर-नारी दोनों इसमें भाग लेते थे। ऋग्वेदकालीन **'समन'** नामक एक सामाजिक उत्सव का पता चलता है। यह उत्सव मेले के रूप में आयोजित होता था। इसमें नर-नारी, कवि, कलाकार, धनुर्धर, घुड़सवार, गणिकाएँ - सभी कला प्रदर्शन के लिए उपस्थित होते थे। रात-रात भर नर-नारियों का सामूहिक न त्य होता था। अनेक प्रकार के लोकाभिनय एवं लोकन त्य होते थे। महाव्रत नामक सोमयाग में सामूहिक न त्य का वर्णन है। जिसमें तीन से छः स्त्रियां शिर पर जल से भरी गगरी रखकर वर्तुलाकार गति से न त्य करती थी। इस प्रकार ज्ञात होता है कि ऋग्वेदकाल में अनेक प्रकार के न त्य एवं अभिनय प्रचलित थे। पुरोहित लोग देवलोक की घटनाओं का प थ्वीलोक पर अनुकरण करने के लिए देवताओं एवं ऋषियों की भूमिका ग्रहण करते थे । यहीं से नाट्य का विकास हुआ।

यजुर्वेद नाट्य कला की द ष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यजुर्वेद में नाट्य के पात्रों एवं नेपथ्य की सामग्री का स्पष्ट उल्लेख है। यजुर्वेद में एक ऐसी रंगशाला का उल्लेख मिलता है जिसे **'समा'** कहा गया है। उसमें न त्य के लिए सूत को, गीत के लिए शैलूष को, हँसाने के लिए विदूषक को, प्रसाधन के लिए कलाकारों को तथा वीणावादक, दुन्दुभिवादक, वंशीवादक एवं तालधारी व्यक्तियों को नियुक्त किया गया था। यजुर्वेद में नाट्य के परिभाषिक शब्दों के उल्लेख से यह सिद्ध होता है कि तब नाट्य विकास की उस सीमा पर था जब उसमें न त्य, गीत और अनुकरण आ मिले थे और विदूषक का रूप कारि, रेम तथा वामन के रूप में पनप रहा था। व्यवसायी कलाकार लौकिक समारोहों पर आमन्त्रित किये जाते थे। अथर्ववेद में दुन्दुभि, कर्करी आदि वाद्यों तथा अनेक स्थलों

पर गन्धर्वों का उल्लेख मिलता है। अथर्ववेद में बताया गया है कि गन्धर्वों का जीवन सोमपान तथा न त्य, गीत, वाद्य के साथ हर्षोन्मत्त एवं स्वच्छन्द रूप से प्रवर्तित होता था। इससे ज्ञात होता है कि उस समय नाट्यकला अत्यन्त उन्नत अवस्था को प्राप्त थी। ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय नाट्य कला वैदिक सूक्तों एवं लोकजीवन की शाश्वतधारा के प्रभाव में निरन्तर सम द्ध होती गई। नट, नर्त्तक, गायक, वादक, विदूषक आदि कलाकारों की उसमें समावेश होता गया। भारतीय जनजीवन में वह अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई और सभी वर्ग के लोगों ने उसे सहर्ष स्वीकार किया।

महाकाव्यकाल और नाट्य

रामायण काल में नाट्य के अस्तित्व के असन्दिग्ध प्रमाण मिलते हैं। रामायण में शैलूष, नट, नर्त्तक, गायक आदि का उल्लेख मिलता है। उस समय नटों, नर्त्तकों तथा गायकों के अपने - २ संघ होते थे। जिन्हें सामूहिक प्रदर्शन के लिए अवसर दिया जाता था। रामायण में उल्लेख है कि शासनहीन जनपद में नट, नर्त्तक प्रसन्न नहीं दिखाई देते। उस समय नाटकों का अभिनय भी होता था। जब भरत ननिहाल में थे तो दुःस्वप्न से दुःखित उनके मन के मनोरंजन के लिए नाटक का अभिनय किया गया था। कुछ नाटक ऐसे भी थे जिनमें भाषाओं का मिश्रण रहता था, उन्हें व्यामिश्र कहा जाता था। रामायण में उल्लिखित 'रंग' शब्द से ज्ञात होता है कि उस समय रंगमंच की कल्पना अंकुरित हो चुकी थी। इस प्रकार रामायण के विभिन्न प्रसंगों से ज्ञात होता है कि उस समय सभी वर्गों में नाट्य के प्रति रूचि जाग्रत हो गई थी। लोकोत्सवों के अवसर पर नाट्य एवं न त्य का प्रदर्शन किया जाता था।

महाभारत में तत्कालीन संस्कृति का सर्वांगीण चित्रण उपलब्ध होता है। उसमें नट, नर्त्तक, गायक, सूत्रधार, किन्नर, वीणा, म दंग, भेरी आदि शब्दों का निर्देश मिलता है। तत्कालीन जन जीवन में इनका गौरवपूर्ण स्थान था। राजकन्याओं और रानियों के लिए संगीत शिक्षा का विशेष प्रबन्ध था। अर्जुन को विराट की राजकन्या को संगीत शिक्षा प्रदान करने के लिए नियुक्त किया गया था। महाभारत में **'रामायण'** तथा **'कौबेररम्भाभिसार'** नाटक के नाटकों के अभिनीत होने का उल्लेख प्राप्त होता हे। महाभारत के हरिवंशपर्व के अनुसार ये दोनों नाटक प्रद्युम्नविवाह के अवसर पर अभिनीत किये गये थे। 'मुग्धाभिनय' नामक प्रहसन के भी अभिनीत होने का उल्लेख मिलता है। इस अभिनय में चित्रलेखा नामक अप्सरा ने पार्वती और शिवगणों के विश्वरूप का अभिनय किया था। इसे देखकर शिव और पार्वती ने उसकी कला-कौशल पर आश्चर्य प्रकट किया था। इससे ज्ञात होता है कि महाभारतकाल में नाटक अभिनीत होने लगे थे। अभिनय कला में पर्याप्त विकास हुआ था। उसमें हास्यपूर्ण प्रसंगों का भी समावेश हो गया था। यही कारण है कि उस समय नाट्य की लोकप्रियता अधिक बढ़ गई थी।

व्याकरणशास्त्र और नाट्य

पाणिनी की अष्टाध्यायी संस्कृत साहित्य की अनुपम कृति है। पाणिनी ने शिलालिन् तथा कृशाश्व द्वारा रचित दो नटसूत्रों का संकेत किया है। इसमें जो शिलालि प्रोक्त नटसूत्रों का अध्ययन करने वाले थे, वे शैलालिन् और जो कृशाश्व की परम्परा में दीक्षित थे, वे कृशाश्विन् कहलाते थे। इससे स्पष्ट है कि पाणिनि के समय में शैलालिन् और कृशाश्विन् सम्प्रदाय के नटों की दो विभिन्न परम्पराएँ प्रवर्त्तित हो गई थी। इस सन्दर्भ से यह भी पता चलता है कि नटों को दीक्षित करने के लिए सूत्रग्रन्थों की रचना होने लगी थी और नाट्यकला को सम्मान की द ष्टि से देखा जाता था। उस समय नाट्य के सामूहिक कार्यक्रम न त्य, गीत एवं वाद्य के साथ होते थे। पाणिनि ने **'जाम्बवती-विजय'** नामक एक नाटक भी लिखा था।

पतंजलि का महाभाष्य व्याकरण शास्त्र का महनीय ग्रन्थ है। पतंजलि ने महाभाष्य में **'कंसवध'** और **'बालिवध'** नामक दो नाटकों का उल्लेख किया है। उस समय इन दोनों नाटकों को रंगमंच पर अभिनीत किया जाने लगा था। शोभनिक नट अपने आप को दो दलों में विभाजित कर लेते थे और अभिनय के सम्यक् निर्वाह के लिए पात्रोचित रंग से मुखों को रंग लेते थे। उनमें कंस के भक्त तो काले रंग का चेहरा बनाकर अभिनय करते थे और कृष्ण के भक्त लाल रंग का चेहरा बनाकर अभिनय करते थे।

महाभाष्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस समय नटों के साथ उनकी पत्नियाँ भी रंगमंच पर अभिनय करती थी। पतंजलि ने शोभानिक एवं ग्रंथिक के कार्यों का अलग-२ निर्देश किया है। इनमें शोभानिक का कार्य नटों को दीक्षित करना था तथा ग्रन्थिक का कार्य ग्रन्थ पटल की सहायता से लोगों के सम्मुख प्राचीन आख्यानों को प्रस्तुत करना था। उस समय नाट्य में पाठ्य, गान और अभिनय-तीनों का समावेश था और उसको सार्वजनिक रंगमंच पर अभिनीत किया जाता था। इससे स्पष्ट है कि उस समय नाट्यकला का पूर्ण विकास हो चुका था। अभिनय रंगमंच पर किया जाता था। अभिनेताओं को नाट्य कला की विधिवत् शिक्षा दी जाती थी। पुरुषों की भूमिका पुरुष पात्र तथा स्त्रियों की भूमिका स्त्री पात्र ही करते थे। नट लोग उचित वेश-भूषा के साथ अभिनय करते थे।

कौटिलीय अर्थशास्त्र और नाट्य

अर्थशास्त्र संस्कृत साहित्य का अमूल्य ग्रन्थ है। इसे मौर्ययुगीन भारत का विश्वकोष कहा जाता है। कौटिलीय अर्थशास्त्र में नट, नर्त्तक, गायक, कुशीलव, प्लवक, सौमिक, चारण और गणिकाओं को राज्याश्रय देने का उल्लेख है और आवश्यकता पड़ने पर गुप्तचर के रूप में उनका उपयोग किया जाता था। इनमें से कुछ कलाकार जनता के आश्रय से अपनी आजीविका चलाते थे। अर्थशास्त्र में बताया गया है कि गणिका, दासी, अभिनेत्री, नटों आदि को नाट्य, न त्य, गीत, वाद्य, वैशिक आदि कलाओं में प्रशिक्षण के लिए शासन की ओर से संगीतशालाओं, नाट्यशालाओं तथा चित्रशालाओं का प्रबन्ध किया जाता था। इन शालाओं का संचालन सुयोग्य आचार्यों द्वारा होता था और इन्हें राज्य की ओर से योग्यतानुसार वेतन दिया जाता था। इस प्रकार स्पष्ट है कि उस समय कला एवं कलाकारों को राज्याश्रय प्राप्त था और समाज में इन्हें आदर प्राप्त था।

कामसूत्र और नाट्य

वात्स्यायन कृत कामसूत्र कौटिलीय अर्थशास्त्र के पश्चात् मानव के भौतिक जीवन पर प्रकाश डालने वाला सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। यह स्वयं एक कलाविषयक शास्त्रीय ग्रन्थ है। इसमें ६४ कलाओं का प्रतिपादन है परन्तु उनमें नाट्य, न त्य तथा गीत कला प्रमुख है। वात्स्यायन के अनुसार प्रत्येक मास अथवा पक्ष में प्रायः सरस्वती मन्दिर में समाजोत्सव मनाया जाता था जिसमें कुशल नट, नर्त्तक आदि कलाकारों द्वारा विभिन्न कलाओं का प्रदर्शन होता था। कभी कभी विशिष्ट अवसरों पर कुशीलव नाट्य का कार्यक्रम प्रस्तुत करते थे। इस उत्सव में सम्माननीय कलाकारों के अतिरिक्त बाहर से भी नट, नटी, नर्त्तक, कुशीलव आदि कलाकार आमन्त्रित किये जाते थे। उन्हें भी अपनी कलाओं के प्रदर्शन का अवसर दिया जाता था। वे अपनी कला द्वारा दर्शकों को प्रसन्न एवं मन्त्रमुग्ध करने का प्रयत्न करते थे। इसके लिए उन्हें उचित पारितोषिक भी दिया जाता था। उनमें योग्य कलाकारों को कुछ दिन और रुकने का आग्रह भी किया जाता था। वात्स्यायन के अनुसार इस प्रकार के अनेक लोकोत्सव उस समय मनाये जाते थे जिनमें न त्य, गीत, वाद्य, नाटक, हल्लीशक

आदि का प्रबन्ध किया जाता था। इस प्रकार ज्ञात होता है कि उस समय नाट्य समाज का एक अभिन्न अंग बन चुका था। समाज के सभी वर्गों में उसका प्रचार-प्रसार हो चुका था।

बौद्ध साहित्य और नाट्य

बौद्ध साहित्य में 'नाट्य' के लिए 'प्रेक्षा' शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है और नाट्य के दिग्दर्शक को 'नटाचार्य' कहा जाता है। नट रंगमंच पर विविध अभिनयों के द्वारा जनता का मनोरंजन करते थे। उस समय नाट्य को राज्याश्रय प्राप्त था। उन्हें राज्य की ओर से धन दिया जाता था और उन पर शासन का पूर्ण नियंत्रण रहता था। सामाजिक लोकोत्सवों पर नाट्य एवं न त्य का प्रदर्शन होता था। उसके लिए बीच में रंगमंच बनाकर चारों ओर दर्शकों के बैठने के लिए दीर्घिकाएँ बनाई जाती थी। रंगमंच पर न त्य, नाट्य, अभिनय, गीत, वाद्य, मल्लयुद्ध तथा पशु-पक्षियों के युद्ध के द श्य दिखाये जाते थे। ये प्रदर्शन इतने प्रभावशाली होते थे कि इन्हें देखने के लिए देव, नाग और गरूड़ भी आते थे। बौद्ध साहित्य में एक ऐसे अभिनय का भी उल्लेख है जिसमें एक अभिनेता ५०० नर्तकियों के साथ न त्य एवं नाट्यकला का प्रदर्शन करके नागरिकों को सम्मोहित किया करता था। इस प्रकार बौद्ध युग में नाट्यकला का पूर्ण प्रचलन था जिसका अभिनय लोक के मनोरंजन के लिए किया जाता था।

जैन साहित्य और नाट्य

जैन परम्परा के अनुसार आदिम नाट्य और न त्य महावीर स्वामी की जीवनी पर आधारित था। स्त्री और पुरुष दोनों के द्वारा समुचित भूमिका का अभिनय किया गया था। ***'रायापसेणीय'*** नामक ग्रन्थ में ३२ प्रकार के नाट्यों का वर्णन है। इससे ज्ञात होता है कि उस समय नाट्य कला अत्यन्त विकसित अवस्था में थी। ***'नापाधम्मकहा'*** में एक कथा आई है कि मेघकुमार नामक एक धनी विवाह के पश्चात् नाटकों को देखने में समय व्यतीत करता था। इन नाटकों में स्त्रियों के द्वारा न त्य, गीत एवं वाद्यवादन होता था। विवाह के अवसर पर मेघकुमार को आठ नर्त्तकियों एवं बत्तीस नटों वाली नाट्यमण्डली दहेज में दी गई थी। इससे स्पष्ट है कि तत्कालीन समाज में नाट्य अत्यन्त लोकप्रिय था।

स्म ति साहित्य और नाट्य

स्म ति साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि स्म तिकाल में नाट्यकला के व्यवसायियो को हेय द ष्टि से देखा जाता था। मनु ने नाट्य व्यवसायी कुशलीवों को प्रच्छन्न तस्कर कहा है। उनके अनुसार राजा को चाहिए कि ऐसे समाज कंटक व्यक्तियों को नगर से निर्वासित कर दे। मनु का कथन है कि नाट्य व्यवसाय करने वाले व्यक्ति एवं स्त्रियां परद्रव्यापहरण में दक्ष होती हैं। अतः गुप्तचरों के द्वारा उन पर निगरानी रखनी चाहिए। मनु के अनुसार वे लोग नगर से बाहर रहकर जीविकोपार्जन करें तथा प्रतिमास राजकर के रूप में राजसभा में उपस्थित हों। याज्ञवल्क्य स्म ति से ज्ञात होता है कि उस समय नट के लिए 'भरत' शब्द का प्रयोग किया जाता था। वे लोग काले, पीले, सफेद आदि रंगों से अपने शरीर को र जित करके नानाविध रूपों को धारण करते थे। इससे प्रतीत होता है कि उस समय नट, नर्त्तक, कुशीलव आदि स्थान-२ पर घूमकर कला-प्रदर्शन के द्वारा अपनी जीविका चलाते थे। उन्हें समाज में हेय द ष्टि से देखा जाता था।

पुराण साहित्य और नाट्य

संस्कृत वाड्.मय में पुराणों का महत्वपूर्ण स्थान है। नाट्कला की द ष्टि से हरिवंश पुराण, अग्निपुराण, विष्णुपुराण, विष्णुधर्मोत्तर पुराण एवं भागवत पुराण महत्वपूर्ण हैं। हरिवंश पुराण में

नाट्यकला सम्बन्धी प्रचुर सामग्री मिलती है। उस समय नाटकादि रूपक प्रकारों में न त्य प्रयोग अधिक होता था और 'नाटक' को 'प्रेक्षा' नाम से अभिहित किया जाता था। हरिवंश पुराण में 'रामायण' और 'गड्.गावतरण' नामक नाटकों के अभिनय का उल्लेख मिलता है। नर और नारियाँ दोनों ही नाटकों में अभिनय करती थीं। नाटकों में संगीत का स्थान प्रमुख होने के कारण संगीतकला में कौशल प्राप्त करना अत्यावश्यक था। विष्णु पुराण में एक ऐसी रंगशाला का वर्णन मिलता है जिसमें प्रवेश करने के लिए द्वार बने हुए थे। बीच में रंगभूमि और चारों तरफ मंच बने हुए थे। वहाँ पर शासक वर्ग, अन्तः पुरिकाओं, वारवनिताओं, नागरिकों और गोपों के लिए भिन्न-२ मंच थे। यह रंग भूमि मल्लयुद्ध के लिए तैयार की गई थी। भागवत पुराण में वर्णित रासलीला नाट्यकला की द ष्टि में सर्वोत्तम है। अग्निपुराण और विष्णुधर्मोत्तर पुराण दोनों में नाट्यकला का शास्त्रीय विवचन हुआ है। अग्निपुराण में अभिनय चार प्रकार का बताकर आड्.गक अभिनय का विस्त त विवेचन किया गया है। नायक-नायिकाओं की चेष्टाओं तथा नायक के सहायक विदूषक, पीठमर्द, विट आदि का वर्णन किया गया है। इस प्रकार नाट्य के विकास में पुराणों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। पुराणों में नाट्य सम्बन्धी विषयों का प्रतिपादन ही नहीं है अपितु उनका शास्त्रीय विवेचन भी किया गया है। नाट्य परम्परा में पुराणों का महत्वपूर्ण स्थान है तथा उनमें भी अग्निपुराण का योगदान विशेष उल्लेखनीय है।

रासलीला, हल्लीस, छालिक्य और नाट्य

भागवत पुराण की रासप चाध्यायी में **रासलीला** का सर्वोकृष्ट रूप द ष्टिगोचर होता है। रासप चाध्यायी में रासलीला में श्री कृष्ण गोपिकाओं के साथ मण्डलाकार न त्य करते हैं। लोक जीवन में अभिनयकला के प्रचार-प्रसार की द ष्टि से रासलीला का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। जिसका शास्त्रीय विवेचन भागवत धर्म के ग्रन्थों में मिलता है। विद्वानों का विचार है कि नाट्य कला का प्राचीन रूप हल्लीस न त्य में देखने का मिलता है। रासन त्य का ही दूसरा नाम **'हल्लीस'** है। हल्लीस न त्य के अधिष्ठाता भगवान् श्रीकृष्ण हैं। उन्होंने गोपियों और राधा के साथ इस न त्य का प्रयोग किया था। नाट्यशास्त्र में हल्लीस न त्य का विवेचन है। अभिनवगुप्त के अनुसार हल्लीस न त्य उसे कहते हैं जो न त्य मण्डलाकार के रूप में आयोजित होता था, उसमे एक नायक होता था और राग, ताल एवं लयों का समावेश होता था। शारदातनय ने बारह या सोलह नायिकाओं द्वारा अभिनीत हस्तबद्ध न त्य को 'रासक' कहा है। भगवान् श्रीकृष्ण ने मण्डलाकर हाथ बाँधे गोपिकाओं के मध्य में वेणुवादन करते हुए हल्लीस न त्य का स जन किया था। श्रीकृष्ण ने वेणुवादन में सामगान करते हुए गोपियों के साथ एक न त्य किया था जिसे **'छालिक्य'** न त्य कहते हैं । हरिवंशपुराण के अनुसार सर्वप्रथम इसका अभिनय देवों एवं ऋषियों ने किया, बाद में भगवान् श्रीकृष्ण ने लोकहितार्थ भूलोक में प्रसारित किया। कालिदास ने मालविकाग्निमित्र नाटक में इस अभिनय को **'छलिक'** नाम से अभिहित किया है। विद्वानों का कहना है कि इस छालिक्य अभिनय से ही नाटयकला का उद्गम हुआ है।

नन्दिकेश्वर और नाट्य

नन्दिकेश्वर का नाट्यकला के विकास में पूर्ण योगदान रहा है। नन्दिकेश्वर के अनुसार ब्रह्मा के द्वारा प्रोक्त नाट्य का अभिनय सर्वप्रथम भरत ने किया था, किन्तु यह नाट्य न त्य-वाद्य से शून्य उद्धत प्रयोग था। भगवान् शिव ने तण्डु के द्वारा भरत को ताण्डव की शिक्षा दिलाई और पार्वती के लास्य का उपदेश दिया। इस प्रकार नाट्य में ताण्डव और लास्य का समावेश हुआ। तदनन्तर पार्वती ने लास्य की शिक्षा बाणासुर की दुहिता उषा को दी। उषा ने ब ज की गोपियों को, गोपियों ने सौराष्ट्र

की ललनाओं को और सौराष्ट्र की ललनाओं ने भिन्न-भिन्न प्रदेश की युवतियों को दीक्षित किया। इस प्रकार यह नाट्यकला परम्परया समस्त भूमण्डल पर प्रतिष्ठित एवं विश्रुत हुई। नन्दिकेश्वर ने नाट्यकला में अभिनय को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया है। उन्होंने नाट्य, न त्त और न त्य को अभिनय का अंग स्वीकार किया है। नन्दिकेश्वर के अनुसार नाट्य के न त्य, गीत, अभिनय, भाव, रस और ताल ये छः साधन होते हैं और उनमें अभिनय की प्रधानता स्वीकार की है। वैसे उन्होंने सभी अंगों पर विचार किया है। उन्होंने ताण्डव और लास्य इन दोनों न त्य प्रकारों को भी नाट्य के अन्तर्गत स्वीकार किया है। ताण्डव और लास्य दोनों के नाट्य में समावेश होने पर ही नाट्य की पूर्णता मानी गई है।

नाट्यशास्त्र और नाट्य

नाट्यकला के विकास में नाट्यशास्त्र का सर्वाधिक महत्त्व है। प्राचीन भारतीय नाट्यकला को प्रकाश में लाने वाला यही एकमात्र ग्रन्थ है। नाट्यशास्त्र के अनुसार नाट्यकला के प्रवक्ता ब्रह्मा हैं और भरत है उसके प्रयोक्ता। भरत ने अनुसार नाट्य का उद्देश्य केवल मनोर जनमात्र ही नहीं था, बल्कि समाज के नैतिक स्तर की रक्षा एवं उसे समुन्नत करना भी था। इसी द ष्टि से उन्होंने नाट्यशास्त्र में केवल नाटक के लेखकों एवं अभिनेताओं के लिए गुण एवं नियम निर्धारित नहीं किये हैं बल्कि प्रेक्षकों के लिए भी एक स्तर स्थापित किया है। उनके अनुसार जब तक प्रेक्षक में ग्रहणशील बुद्धि और सद्गुण न हों तब तक यह रस का ग्रहण नहीं कर सकता। अतः प्रेक्षक को शास्त्र का ज्ञाता, षडड्.ग नाट्यविद्या को जानने वाला, चार प्रकार के आतोद्य वाद्यों का विशेषज्ञ, सभी प्रकार के वेश-भूषा का मर्मज्ञ, समस्त कलाओं और शिल्पों में विचक्षण तथा अभिनयकला में मर्मज्ञ होना चाहिये।

नाट्यशास्त्र के अनुसार गीत, न त्य और वाद्य - ये तीनों नाट्य के अड्.ग हैं। अतः उसमें नाट्यविवेचन के साथ न त्य, गीत और वाद्य पर भी विचार किया गया है। भरत न त्य, गीत, वाद्य को स्वतन्त्र कला के रूप में स्वीकार नहीं करते वे उन्हें नाटय का उपकारक मानते हैं। उन्होंने ताण्डव और लास्य न त्य प्रकारों को भी नाट्य के अन्तर्गत माना है। नाट्यसर्वस्वदीपिकाकार ने भी ताण्डव और लास्य को नाटय के अन्तर्गत स्वीकार किया है और उसके व्यवसायी को नट कहा है। कालिदास ने भी नाट्य शब्द का प्रयोग न त्य तथा रूपक दोनों अर्थो में किया है। मालविका ने 'छलित' नामक न त्य प्रकार को 'नाट्य' नाम से अभिहित किया है। भरत के अनुसार नट का कार्य ऐसे नाट्य का प्रयोग करना है जो चतुर्विध आतोद्य वाद्यों से युक्त हो। भरत का कहना है कि नट को नाट्यप्रयोग के लिए आतोद्य विधान और आतोद्य-प्रयोग में भी कुशल होना चाहिए। भरत के अनुसार नाट्य एक वह कला है जिसमें गीत, वाद्य एवं न त्य के साथ अन्य कलाओं का भी समावेश है। अतः उन्होंने नाट्योपकारक सभी तत्त्वों पर विचार किया है। नाट्यकला में पूर्णता प्राप्त करने की द ष्टि से ही उन्होंने नाट्याभिनय में पूर्वरंगविधि तथा प्रेक्षाग ह का विधान किया है जो व्यावहारिक द ष्टि से अत्यन्त उपादेय है। नाट्यकला में सजीवता लाने के लिए ही उन्होंने चित्राभिनय का विधान किया है। चित्राभिनय के अन्तर्गत अनेक हाथ पैर वाले या हाथी, घोड़े, बैल आदि के मुखवाले या अन्य विकार वाले अभिनय किये जाते हैं जिससे नाट्याभिनय में र जकता बढ़ती है।

नाट्यकला का रूपकों के रूप में भी विकास हुआ है। नाट्यशास्त्र में इस सुदीर्घ परम्परा में अभिनीत होने वाले रूपकों में रसोद्दीपक और मनोरंजक सभी प्रकार के रूपकों का वर्णन है। जिनमें श ड्.गार, वीर, करूण, रसप्रधान ऐतिहासिक रूपक 'नाटक' कहलाते थे। काल्पनिक प्रेमकथाओं से सम्बद्ध रूपक को 'प्रकरण' कहा जाता था। इसी प्रकार धूर्त्त एवं विटों के हास्यात्मक चरित वाले

रूपक को 'भाण' स्त्रीपात्रों से रहित वीररस प्रधान एंकाकी रूपक को 'व्यायोग' तीन अंकों वाले ऐतिहासिक रूपक को 'समवकार, भूत, प्रेत, राक्षस, यक्ष आदि की उपस्थापना करने वाले तथा भयानक द श्यों वाले रूपक को 'डिम' किसी प्रेमिका की प्राप्ति के लिए संघर्षयुक्त चार अंकों वाले रूपक को 'ईहाम ग' विनोद और श ड्.गारप्रधान एक ही पात्र द्वारा अभिनीत होने वाले एंकाकी रूपक को 'वीथी', सब को हंसाने वाले एंकाकी रूपक को 'प्रहसन' तथा शोकग्रस्त स्त्रियों के करूण-क्रन्दन प्रधान एकांकी रूपक को 'उत्स ष्टिकांक' कहते हैं। इसके अतिरिक्त उपरूपकों के रूप में भी नाट्यकला का विकास हुआ है। उपरूपकों में "नाटिका" चार अंकों का स्त्रीपात्र प्रधान उपरूपक है। अभिनय कला की द ष्टि से यह महत्त्वपूर्ण है। भरत के नाटयशास्त्र में उपरूपकों का उल्लेख नहीं है। रूपक के एक प्रकार "नाटी" का उल्लेख है जो परवर्ती काल में 'नाटिका' के नाम से विख्यात हुई। नाट्यशास्त्र के पश्चात् अग्निपुराण एवं दशरूपक में उपरूपकों के रूप में नाट्यकला का विकास देखा जाता है। उपरूपकों में 'प्रकरणिका', 'सट्टक' और 'त्रोटक' नाटिका की शैली के उपरूपक हैं। दस पुरुष और पाँच स्त्रियों के अभिनय से युक्त उपरूपक 'गोष्ठी' कहलाता था। 'हल्लीस', नाट्यरासक, उल्लाप्य, काव्य, प्रेड्.खण, रासक, श्रीगदित, विलासिका, भाणिका तथा गोष्ठी सहित ये दस उपरूपक एंकाकी होते हैं। इनमें स्त्रीपात्रों की अधिकता पाई जाती है। ये प्रायः हास्य एवं श ड्.गार रस प्रधान हुआ करते थे। इनमें न त्य, गीत एवं वाद्य की प्रधानता होती है। इनके अतिरिक्त नाट्य न त्य पर आश्रित दो अंकों का 'प्रस्थान' चार अंकों का 'शिल्पक' संग्रामादि वर्णनों से युक्त तीन या चार अंकों का 'संलापक' तथा हँसी मजाक के युक्त चार अंकों की 'दुर्मल्लिका' नामक उपरूपक होते हैं।

प्राचीन काल में धार्मिक उत्सवों, त्योहारों एवं सम्मेलनों में सभी वर्गो में न त्य गान हुआ करते थे। वैदिक साहित्य एवं नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में न त्यों की परम्परा विद्यमान थी। यह न त्य परम्परा नाट्य-परम्परा से पूर्ववर्तिनी है। न त्य शब्द के मूल में 'न त्' धातु है। न त् धातु का अर्थ है गात्र-संचालन। पहले ताल एवं लय पर आश्रित गात्र संचालन होता था जिसमें भावाभिव्यक्ति नहीं होती थी। इस प्रकार के अंग संचालन को 'न त्त' कहते थे। किन्तु जब उसमें भावाभिनय का सन्निवेश हुआ तब उसे 'न त्य' कहा जाने लगा। न त्य में जब रस, भाव, ताल, लय सभी का समावेश हुआ तब वह नाट्य कहलाया। जिसमें लोकव त्त का सम्पूर्ण अभिनय किया जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि पहले न त्य कला में थोड़ा सा अभिनय सन्निविष्ट कर उसे लोकरंजन के लिए उपयोगी बनाया गया और उनकी उपरूपक संज्ञा दी गई। ये उपरूपक या न त्यरूपक कब अस्तित्व में आये कुछ कहा नहीं जा सकता, किन्तु इतना निश्चित है कि भरत के समय तक ये व्यवस्थित नहीं हो सके थे। अतः नाट्यशास्त्र में उनका विवेचन नहीं मिलता। उन उपरूपकों का प्रथम उल्लेख धन जय के दशरूपकों में मिलता है। उन्होंने दशरूपकों के अतिरिक्त सात अन्य रूपकों का निर्देश कर उनमें भेद स्थापित किया कि दस भेद तो रसाश्रित होते है और शेष सात भेद भावाश्रित। उन सातों के नाम हैं- डोम्बी, श्रीगदित, भाण, भाणी, प्रस्थान, रासक और काव्य। धन जय ने इन्हें उपरूपक नही कहा है किन्तु आगे चलकर इनकी गणना उपरूपकों में होने लगी। अभिनवगुप्त ने आठ उपरूपकों का उल्लेख किया है जिनमें श्रीगदित और काव्य को छोड़कर शेष पांच धन जय के और प्रेक्षणक, रासाक्रीड, हल्लीसक ये तीन और जोड़ दिये गये। आगे चलकर हेमचन्द्र ने दस, रामचन्द्र गुणचन्द्र ने तेरह, शारदातनय ने बीस और विश्वनाथ ने अठारह उपरूपकों को स्वीकार किया है। इस प्रकार नाट्यकला उत्तरोतर विविध रूपकों में विकसित होती हुई विश्वनाथ के समय तक दश रूपकों और अठारह उपरूपकों की स्थिति में पहुँच गई। विश्वनाथ के पूर्व अठारह उपरूपक न त्यरूपक कहलाते थे, किसी ने उन्हें उपरूपक नहीं कहा था। विश्वनाथ ने उन्हें उपरूपक की संज्ञा प्रदान की।

उपर्युक्त समस्त विवेचन को ध्यान में रखकर यही कहा जा सकता है कि नाटय्कला का विकास न त्त, न त्य और संवाद के संयोग से हुआ है। यह विकास प्राग्वैदिक काल से प्रारम्भ होता है और भरत के समय तक पूर्ण हो जाता है। प्राग्वैदिक काल में सिन्धु सभ्यता में प्राप्त अवशेषों के आधार पर ज्ञात होता है कि उस समय न त्यकला विकासावस्था में पहुँच चुकी थी। किन्तु पहले वह कला न त्य के रूप में विकसित हुई और बाद में उसमें संवादात्मक तत्त्वों का समावेश हुआ। **ओल्डेनबर्ग** के अनुसार गीतों का समन्वय पवित्र न त्यों से हुआ, बाद में उसमें कथोपकथन भी मिल गया और साथ ही लोकप्रचलित नटों का भावप्रदर्शन का भी समन्वय हुआ। **ओल्डेनबर्ग** के इस सिद्धान्त में नाट्यकला के विकास की पूर्ण रूपरेखा आ जाती है। भरत के नाट्यशास्त्र के रचना-काल तक नाट्यकला के विकास का एक व्यस्थित रूप निश्चित हो गया था क्योंकि नाट्यशास्त्र में नाट्य के सभी वर्गो पर विचार किया है। किन्तु नाट्य का विकास रुका नहीं जारी रहा और उत्तरोत्तर बढ़ता गया। नाट्यशास्त्र में स्वीकृत दश रूपक रंग - मंच पर विविध प्रकारों में अभिनीत होने से विविध अवस्थाओं में गुजरते हुए विश्वनाथ के समय तक दस रूपकों और अठारह उपरूपकों के रूप में विकसित हो गए। नाट्यकला की सैद्धान्तिक विवेचना के साथ शास्त्रकारों ने प्रयोगात्मक व्यवस्था भी की है। फलस्वरूप उपर्युक्त सभी विधाओं के रूपको का निर्माण होता रहा, उन्हें रंगमंच पर अभिनीत किया जाता रहा और तदनुकूल उनके स्वरूप की शास्त्रीय व्याख्या भी होती रही। इस प्रकार नाट्यकला की वह परम्परा आज तक चली आ रही है।

संस्कृत का नाट्यसाहित्य

संस्कृत के प्रथम नाटककारः महाकवि भास (त तीय शती ई॰ पूर्व)

भास का समय

संस्कृत-नाट्य-साहित्य की परम्परा ऋग्वेद से ही मिलती है। पतंजलि के समय में संस्कृत-नाटक अपनी उन्नति के शिखर पर था। कालिदास के नाटकों में नाट्यकला की जो चरम सीमा दिखाई पड़ती है, उससे भी यह सिद्ध होता है कि उनसे पूर्व भी संस्कृत नाटक-साहित्य की प्राचीन और पुष्ट परम्परा विद्यमान थी। दुर्भाग्यवश कालिदास के पूर्व निर्मित नाटकों में से 'भास' के नाटक ही आज उपलब्ध हैं, शेष सभी नाटक कालिदास के नाटकों के असाधारण उत्कर्ष के कारण नष्ट हो गए हैं। कालिदास ने अपने 'मालविकाग्निमित्र' नामक नाटक में सूत्रधार के मुख से प्रश्न कराया है कि 'प्रथितयश वाले भास, सौमिल्ल, कविपुत्र आदि कवियों के प्रबन्धों को छोड़कर कालिदास की कृतियों का इतना मान क्यों हो रहा है?' इस कथन से यह सिद्ध हो जाता है कि कालिदास के समय में भास के नाटक अत्यन्त लोकप्रिय थे। सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ में **महाकवि बाणभट्ट** ने भी भास की इस लोकप्रियता की चर्चा **'हर्षचरित'** में की है-

सूत्रधारकृतारम्भैर्नाटकैर्बहुभूमिकैः।
सपताकैर्यशो लेभे भासो देवकुलैरिव।।

अर्थात् भास ने सूत्रधार से प्रारम्भ किये गए, भूमिका वाले तथा पताका से सुशोभित मन्दिरों के समान अपने नाटकों से बहुत यश प्राप्त किया। **राजशेखर** ने दशम शताब्दी के प्रारम्भ में भास के अत्यन्त मान्य **'स्वप्नवासवदत्ता'** रूपक की चर्चा की है। इस प्रकार यह बात सिद्ध हो जाती है कि कालिदास के पहले महाकवि भास नामक संस्कृत के सुप्रसिद्ध एवं अत्यन्त लोकप्रिय नाटककार हो चुके हैं और उनके नाटकों का एक समूह था, जिनमें 'स्वप्नवासवदत्ता' अप्रतिम था।

सन् १९१० ई॰ तक महाकवि भास के नाटक विद्वत् समाज के लिए अज्ञात् थे। **सन् १९०६** में **टी॰ गणपति शास्त्री** को **त्रावणकोर** राज्य में भास के तेरह नाटक खोज में मिले। इन नाटकों से लेखक के सम्बन्ध में कोई भी सूचना न होने के कारण अनुसन्धानकर्ता को इन्हें भास की रचना सिद्ध करने के लिए पर्याप्त परिश्रम करना पड़ा। **डॉ॰ कीथ** ने भी माना है कि ये तेरह नाटक एक ही व्यक्ति की कृति है, क्योंकि इनमें अत्यधिक साद श्य पाया जाता है। डॉ॰ कीथ ने कहा है कि टी॰ गणपति शास्त्री द्वारा भास को पहचानने में जो तर्क प्रस्तुत किये हैं, उनसे वे सन्तुष्ट हैं।

टी॰ गणपति शास्त्री के अनुसार भास का समय **३०० ई॰ पू॰** के पश्चात् का नहीं हो सकता। भास ने बहुत ही सरल और प्रांजल भाषा-शैली में अपने रूपकों की रचना की है। सभी में अष्टाध्यायी के नियमों का अक्षरशः पालन नहीं हुआ है, वरन् संस्कृत के कुछ अपाणिनीय आर्ष प्रयोग भी पाये जाते हैं। अतः भास पाणिनि के समकालीन हो सकते हैं, जिनका समय **गोल्डस्टकर** के अनुसार **६०० ई॰ पू॰** है। भास ने अपने **'प्रतिमा'** नाटक में **ब हस्पति** के **अर्थशास्त्र** का उल्लेख किया है, कौटिल्य का नहीं। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में भास के **'प्रतिज्ञायौगन्धरायण'** में पाया जाने वाला श्लोक उद्ध त किया है। अतः भास कौटिल्य से पूर्ववर्ती है। भास के नाटकों का सामाजिक चित्रण छठी से चौथी शताब्दी ई॰ पू॰ के भारत की ओर संकेत करता है। उनके नाटकों में उठाई गई सामाजिक समस्याएँ नन्द-युग की है, यथा-मन्दिरों के घेरे में बालू डालने की प्रथा (प्रतिमा

नाटक)। डॉ॰ कीथ आदि विद्वानों ने भास रचित नाटकों के सम्बन्ध में सन्देह करने वाले विद्वानों के तर्को को थोथा सिद्ध कर दिया है। अतः भास का स्थितिकाल अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रमाणों के आधार पर चौथी या पाँचवीं शताब्दी ईसा पूर्व निश्चित होता है। हमारा अनुमान है कि **भास का समय त तीय शती ई॰ पू॰ के लगभग** निश्चित करना उचित है। यही टी॰ गणपति शास्त्री का मत है।

नाट्य रचनाएँ

एक परम्परा के अनुसार भास ने तीस से भी अधिक ग्रन्थों की रचना की थी। अभी तक अनुसन्धान में उनके तेरह नाटक उपलब्ध हुए हैं, जो विषयानुसार पाँच श्रेणियों में आते हैं-

१ **रामकथाश्रितः** प्रतिमा तथा अभिषेक।

२. **महाभारताश्रितः** पंचरात्र, मध्यम व्यायोग, दूत घटोत्कच, कर्णभार, दूतवाक्य, उरुभंग।

३. **भागवगताश्रितः** बालचरित।

४. **लोककथाश्रितः** दरिद्र चारुदत्त, अविमारक।

५. **उदयन की कथा पर आश्रितः** प्रतिज्ञायौगन्धरायण तथा स्वप्नवासवदत्तम्।

इनमें रामायण के आधार पर लिखे दो रूपक हैं-प्रतिमा, अभिषेक। महाभारत के आधार पर लिखे सात रूपक हैं-मध्यम व्यायोग, दूत घटोत्कच, कर्णभार, उरूभंग, पंचरात्र, दूतवाक्य तथा बालचरित। शेष चार कल्पनाश्रित हैं-अविमारक, दरिद्र चारुदत्त, प्रतिज्ञायौगन्धरायण तथा स्वप्नवासवदत्ता।

रूपक के विविध रूपः एकांकी के प्रणेता

पं॰ बलदेव उपाध्याय ने भास की नाट्यकला के सम्बन्ध में लिखा है-''भास को मानव-जीवन के नाना क्षेत्रों को देखने तथा नाटकों में अंकित करने का अवसर मिला है। इसलिए उनके नाटकों में विविधता तथा बहुमुखिता विशेष रूप से द ष्टिगोचर होती है। कुछ नाटक, जैसे स्वप्नवासवदत्ता, प्रतिज्ञा, यौगन्धरायण, प्रतिमा आदि पूर्ण विकसित नाटक हैं, परन्तु मध्यम व्यायोग, दूतवाक्य, दूत घटोत्कच, कर्णभार तथा उरूभंग केवल एक अंक के रूपक होने के हेतु 'एकांकी' कहे जा सकते हैं। इन नाटकों की सबसे बड़ी विशेषता है-अभिनेयता। ये नाट्य रंगमंच के ऊपर बड़ी खूबी के साथ दिखाये जा सकते हैं।'' संस्कृत में सर्वप्रथम एकांकी नाटकों के प्रणयन का श्रेय भास को है। यद्यपि भास भरतमुनि द्वारा निर्दिष्ट नाट्य-नियमों का अक्षरशः पालन नहीं कर सके है; फिर भी अपनी अद्वितीय कल्पना-शक्ति से उन्होंने अपने कथानक को अत्यन्त रोचक बना दिया है। उनकी अनुपम शैली यह है कि कहीं-कहीं परोक्ष घटनाओं एवं पात्रों को रंगमंच पर बिना उपस्थित किए ही दर्शकों की उनमें पूर्ण रुचि अपने रचना-कौशल से उत्पन्न कर देते हैं। भास की लोकप्रियता का आधार उनका 'दरिद्र चारूदत्त' है, जिसको आश्रय करके शूद्रक ने म च्छकटिक की रचना की। उनके 'स्वप्नवासदत्ता' के कथानक का तो बहुत से परवर्ती नाटककारों ने उपयोग किया है और यह उनका नाट्यकला की द ष्टि से सर्वश्रेष्ठ नाटक तथा उनकी महान् प्रतिष्ठा का आधार है।

भास का वस्तुशिल्प

भास के वस्तु-शिल्प की सबसे बड़ी विशेषता घटनाओं की प्रधानता तथा अर्न्तद्वन्द्व है। इनके नाटकों में अप्रत्याशित घटनाओं की बड़ी मनोहारिणी श्र ंखला दिखाई पड़ती है। भास ने अपने पौराणिक पात्रों का चरित्र-चित्रण भी यथार्थ, मनोवैज्ञानिकतापूर्ण एवं मार्मिक किया है तथा उन्हें

अपनी कल्पना से सर्वथा नवीन एवं प्रभावोत्पादक बना दिया है। नाटकों में यत्र-तत्र शिष्ट एवं परिष्कृत हास्य का पुट भी है। उसमें विकटबन्ध, क्लिष्ट कल्पना और समास की बहुलता का अभाव है। भास ने उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा जैसे साद श्यमूलक सरल अलंकारों का ही अधिकांशतः प्रयोग किया है। रस और परिस्थिति के अनुरूप वे अपनी शैली में परिवर्तन भी कर देते हैं। वे परिमित शब्दों में ही भावों की मार्मिक व्यंजना कर देते हैं। उनका मार्मिक लोकोक्तियों का प्रयोग बड़ा प्रभावपूर्ण है; यथा-**वाचानुव त्तिः खलु अतिथिसत्कारः। सर्वमलंककारो सुरूपाणाम्।** बाह्य तथा अन्तःप्रकृति के चित्रण में भास बड़े कुशल है। उन्होंने अलंकारों के चुनाव एवं नवरसों के चित्रण में अपने कौशल का पूर्ण परिचय दिया है।

डॉ॰ कीथ के शब्दों में 'भास रंचमात्र भी लोककवि जैसे नहीं है। वे काव्य-कला में सिद्धहस्त हैं। उनकी परिष्कृत बुद्धि और अभिरुचि ने नाटक में ऐसी कूट-युक्तियों को अपनाने से बचा लिया है, जिनको दरबारी चरितकाव्य और अवकाश के समय पढ़े जाने के उद्‌देश्य से रचित प्रगीतों में छूट दी गई है। इस प्रकार छद्‌मवेष इन्द्र को अन्यथा समझने और कवच देने से रोकते हुए शल्य के विरोध का कर्ण निराकरण करता है-

शिक्षा क्षयं गच्छति कालपर्ययात् सुबद्धमूला निपतन्ति पादपाः।
जलं जलस्थानगतं च शुष्यति हुतं च दत्तं च तथैव तिष्ठति।।

समय बीतने पर शिक्षा का क्षय हो जाता है, सुद ढ़ मूल वाले व क्ष भी गिर पढ़ते हैं, जलाशय का जल भी सूख जाता है, परन्तु यज्ञ और दान स्थायी रहते हैं। जब सीता को अग्नि-परीक्षा देनी पड़ी है, तब लक्ष्मण ये उद्‌गार प्रकट करते हैं-

विज्ञाय देव्याश्शोचं च श्रुत्वा चार्यस्यशासनम्।
धर्मस्नेहान्तरे न्यस्ता बुद्धिर्दोलायते मम।।

'देवी की शुचिता को जानकर और आर्य (राम) की आज्ञा को सुनकर मेरी बुद्धि धर्म और स्नेह के बीच दोला की भाँति झूल रही है।' जब राम अभिषेक का आदेश मिलने पर अपने पिता के चरणों पर गिरते हैं, वे कहते हैं-

समं वाष्पेण पतता तस्योपरि ममाप्यधः।
पितुर्मे क्लेदितौ पादौ ममापि क्लेदितं शिरः।।

'मेरे अश्रुपात से पिता के चरण भीग गये, उनके अश्रुपात से मेरा शिर भीग गया।'

भास ने अविमारक नाटक का निम्नलिखित पद्य महाकवि की अनुभूति की तीव्रता की अभिव्यक्ति का अच्छा उदाहरण है-

द ष्टिर्न त प्यति परिष्वजतीव सांगम्
रागो भिचोदयति सादयतीव चांगम्।।
बुद्धिस्त्वरां व्रजति बोधयतीव सुप्तम
हर्षात् प्रसीदति विमुह्यति चान्तरात्मा।।

अर्थात् द ष्टि शरीर का आलिंगन करके भी त प्त नहीं हो रही, राग काम-विवश अंग को प्रेरित कर रहा है, बुद्धि उतावली होकर सुषुप्ति को प्रबुद्ध कर रही है, अन्तरात्मा तो हर्ष के कारण मानो मोह को प्राप्त होती जा रही है।

भास का स्थान

संस्कृत नाट्य साहित्य में भास का बहुत ऊँचा स्थान है। राजशेखर ने भास की प्रशस्ति में यह श्लोक लिखा है-

भासो रामिलसोमिलौ वररुचिः श्रीसाहसांककविर्
मेण्ठो भारविकालिदासतरलः स्कन्धः सुबन्धुश्च यः।
दण्डी बाणदिवाकरौ गणपतिः कान्तश्च रत्नाकरः,
सिद्धा यस्य सरस्वती भगवती के तस्य सर्वे पि ते।।

जयदेव ने अपने सुप्रसिद्ध नाटक **'प्रसन्नराघव'** की भूमिका में भास को बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है-

यस्याश्चकोरश्चिकुरनिकरः कर्णपूरो मयूरः,
भासो हासः कविकुलगुरुः कालिदासो विलासः।
हर्षो हर्षो हृदयवसतिः प चबाणस्तु बाणः,
केषां नैषा कथय कविता कामिनी कौतुकाय।।

संस्कृत के सर्वश्रेष्ठ नाटककारः महाकवि कालिदास (प्रथम शती ई० पूर्व)

कालिदास संस्कृत महाकाव्यकारों एवं नाटककारों में मुकुटमणि है। विद्वान समीक्षकों की सम्मति में **'काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला'**। कालिदास द्वारा रचित तीन नाटक कहे जाते हैं-अभिज्ञानशाकुन्तल, विक्रमोर्वशीय और मालविकाग्निमित्र। किन्तु कालिदास की कीर्ति 'शाकुन्तल' पर ही आश्रित है। **'जर्मन महाकवि गेटे'** ने कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तल' की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। उन्होंने जो लिखा है, उसका हिन्दी भावार्थ इस प्रकार है-''यौवन रूप वासन्तिक कुसुम सौरभ और प्रौढ़त्व रूप ग्रीष्म के मधुर फलों को अथवा अम तवत् मानस को सन्त प्त एवं विमुग्ध करने वाली किसी अन्य वस्तु को यदि देखना चाहते हो अथवा पार्थिव ऐश्वर्य एवं स्वर्गीय सुषमा का अपूर्व सम्मिलन यदि एक स्थान पर देखना है तो 'अभिज्ञानशाकुन्तल' का अवलोकन कीजिये।'' इस नाटक में प थ्वी और स्वर्ग का अपूर्व मिलन है।

अभिज्ञान शाकुन्तलम्

कालिदास ने शाकुन्तल की कथा महाभारत के आदि पर्व (अध्याय ६७ से ७४) से ली है, किन्तु वहाँ यह कथा साधारण रूप में है। उसमें कालिदास ने नाटकीयता का संयोजन करके उसे अत्यन्त सरस बना दिया है। नाटक में जीवन की घटनाओं एवं कार्यव्यापारों से संयुक्त आकर्षक एवं सरस चित्रण होता है। उसमें ऐसे मार्मिक प्रसंगों का समावेश होता है जो हृदय को स्पर्श करने वाले हों, जिनमें विभिन्न भावों की रसात्मक अनुभूति हो। ध्वन्यालोककार के अनुसार ऐतिहासिक इतिव त मात्र के निर्वाह से रसानुभव नहीं कराया जा सकता। अतः कवि को कही घटनाओं का संकोच करना पड़ता है तो कहीं परिवर्तन और विस्तार, किन्तु इस संकोच और परिवर्तन में उसे इतना ध्यान रखना पड़ता है कि मूलकथा का ऐतिहासिक तत्त्व तिरोहित न हो पाये।

नाटककार कालिदास ने अपने प्रतिभा से महाभारत की अत्यन्त नीरस, अरोचक एवं आदर्शविहीन कथा को अत्यन्त सरस, कुतुहलवर्धक एवं आदर्शपूर्ण बनाया है और इस हेतु पात्रों के चरित्रों में उत्कर्षविधायक तत्त्वों का संयोजन किया है। दुष्यन्त और शकुन्तला दोनों के चरित्रों में कवि ने

आवश्यक एवं आदर्शानुरूप परिवर्तन किए हैं। वैदर्भी रीति का संयोजन करके कालिदास ने शाकुन्तल को अत्यन्त रमणीय बना दिया है। इस वैदर्भी रीति की प्रशंसा महाकवि बिल्हण ने इन शब्दों में की है-

अनभ्रव ष्टिः श्रवणाम तस्य सरस्वतीविभ्रमजन्मभूमिः।
वैदर्भरीतिः कृतिनामुदेति सौभाग्यलाभः प्रतिभूः पदानाम्।।

अथात् 'यह वैदर्भी रीति तो अम त की अतर्कित वर्षा है जिसके श्रवण मात्र से ही आनन्द प्राप्त होता है, अथवा जो भगवती सरस्वती के विलासों की, मानों जन्मभूमि है, जो पदों की कमनीयता का विश्वास दिलाती रहती है, कुशल एवं भाग्यशाली महाकवि ही इस शैली से काव्य-रचना करने मे समर्थ हो पाते हैं।'

साहित्यदर्पणकार ने वैदर्भी रीति का वर्णन इस प्रकार किया है-

माधुर्यव्यंजकैर्वर्णै रचना ललितात्मिका।
अव त्तिरल्पव त्तिर्वा वैदर्भीरीतिरिष्यते।।

'इसमें शब्द मधुर होते हैं, रचना बड़ी ललित होती है, स्वल्प समास होते हैं, बड़े-बड़े समास नहीं होते।' इस वैदर्भी रीति के संयोजन से शाकुन्तल नाटक ने रमणीयता की चरम सीमा प्राप्त कर ली है।

कथावस्तु

'अभिज्ञानशाकुन्तलम' में हस्तिनापुर के राजा दुष्यन्त और महर्षि कण्व की पालित धर्मकन्या शकुन्तला की प्रणय गाथा निबद्ध है। महर्षि कण्व कहीं बाहर जाते हैं, उनकी अनुपस्थिति में उनके तपोवन में दुष्यन्त और शकुन्तला का प्रथम मिलन होता है, और गान्धर्व विवाह का रूप ग्रहण कर लेता है। राजा दुष्यन्त महर्षि कण्व के आगमन से पूर्व ही अपनी राजधानी को प्रस्थान करते समय अपनी प्रियतमा शकुन्तला को स्वनामांकित मुद्रिका देते हुए कहते हैं कि 'इस मुद्रिका पर अंकित मेरे नाम के अक्षरों को प्रतिदिन एक अक्षर के हिसाब से गिनती रहना, उतने दिन बाद ही अन्तःपुर का कोई सेवक तुम्हें लिवाने यहाँ आ पहुँचेगा।' इसी बीच अतिथि सत्कार में शकुन्तला की कोई असावधानी दुर्वासा ऋषि के शाप का कारण बनती है, जिसे अपने प्रिय के ध्यान में मग्न शकुन्तला नहीं जान सकी, किन्तु उसकी दोनों सखियों (प्रियम्वदा तथा अनसूया) को यह रहस्य पता है कि शापवश राजा शकुन्तला को देखकर तब तक नहीं पहचान सकेगा, जबतक वह किसी 'अभिज्ञान' का दर्शन न कर ले। महर्षि कण्व आश्रम में लौटकर शकुन्तला के गान्धर्व विवाह का समाचार जान कर प्रसन्न हैं तथा उसे गर्भवती जानकर राजा के पास भेजना चाहते हैं। आश्रम से राजधानी जाते समय सखियाँ शकुन्तला को बताती हैं कि यदि राजा तुम्हें पहचानने में भूल करे तो उसे नामांकित मुद्रा दिखा देना। राजा शकुन्तला को शापवश नहीं पहचान पाता तो शकुन्तला कहती है कि मैं अभिज्ञान दिखाकर आपका संदेह दूर करती हूँ, किन्तु वह अंगूठी तो शची तीर्थ के जल को प्रणाम करते समय उसके हाथ से स्खलित हो चुकी थी। शकुन्तला दूसरा आख्यान बताती हुई कहती है-'आपको स्मरण होगा कि एक दिन आप नवमालिका कुंज में अपने हाथ में पानी से भरे कमल के पत्ते का दोना लिए हुए थे, तभी मेरा पालित म गछौना भी वहाँ आ पहुँचा। आपने उस पर दया करके ''पहले इसे जल पी लेने दो'' कह कर जल पिलाना चाहा, किन्तु वह अपरिचित होने के कारण आपके पास नहीं गया, तब मैंने उसे पिलाया तो आपने हँस कर कहा कि 'अपने सगे सम्बन्धियों को सभी पहचानते हैं, तुम दोनों ही तो आश्रमवासी हो।' शकुन्तला के इस कथन पर भी राजा उसे नहीं

पहचानते। कुछ दिन बाद वह अँगूठी उनके पास पहुँचती है, तब वह सारी घटना का स्मरण करके शकुन्तला की खोज में जाते हैं। अन्त में पुनर्मिलन के साथ नाटक समाप्त होता है।

कथानकसौन्दर्य

अभिज्ञान शाकुन्तल में महाभारत के 'शकुन्तोपाख्यान' के इतिव त्त को कवि ने अपनी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा से सरस एवं गरिमामय बनाकर प्रस्तुत किया है। पात्रों को भी गरिमा प्रदान की है। महाभारत के दुष्यन्त को कालिदास ने परिष्कृत करके प्रस्तुत किया है। इस प्रकार कालिदास की कुशलता से प्रस्तुत कथानक खिल उठा है। इसमें नाटकीयता लाने के लिए महाकवि ने जो प्रयास किए हैं, वे सराहनीय हैं। चतुर्थ अंक में उनकी कला अपने चरमोत्कर्ष पर है। **स्व॰ पं॰ चन्द्रशेखर पाण्डेय** और **डॉ॰ नानूराम व्यास** ने लिखा है-'शकुन्तला के प्रयाण का द श्य अपने कवित्वमय वर्णन में, कन्या के गमन पर पित -हृदय की भावनाओं के चित्रण में तथा सामाजिक और नैतिक आदर्शो के निरूपण में अनुपम है। कण्व की व्यग्रता, अनसूया और प्रियंवदा की आनन्द में परिणत चिन्ता, कण्व का राजा के नाम सन्देश ओर भावी ग हलक्ष्मी को उपदेश तथा आश्रम की नीरवता में विविध भाव और घटनाएँ-ये सब ऐसी मार्मिकता तथा प्रगाढ़ सुकुमारता से चित्रित हुए हैं कि ऐसा प्रतीत होता है कि यह अंक मानो शब्द-निर्मित मानव-हृदय ही हो।' छटे अंक के प्रवेशक में कवि ने राज्याधिकारियों और धीवर के वार्त्तालाप द्वारा तत्कालीन लोकजीवन का तो चित्रण किया ही है, साथ ही राजकर्मचारियों की मनोव त्ति का भी सुन्दर परिचय दिया है। अन्तिम अंक में इस लोक से परे उपरिवर्ती लोकों में ले जाकर अत्यन्त शान्त, मनोरम एवं पावन वातावरण में नाटक की परिसमाप्ति प्रदर्शित की है।

चरित्र-चित्रण

दुष्यन्त धीरोदात्त नायक है। उसकी गम्भीर आकृति एवं मधुरवाणी है- '**दुखगाहगम्भीरा-कृतिर्मधुरमालापनप्रभुत्वं दाक्षिण्यं विस्तारयति।'** प्रियम्वदा के इन शब्दों में महाकवि ने दुष्यन्त के व्यक्तित्व को सजीव बनाकर प्रस्तुत किया है। दुष्यन्त बलिष्ठ एवं पराक्रमशाली, ललित कलाओं का मर्मज्ञ, प्रकृतिप्रेमी एवं कुशल चित्रकार है। उसमें मानवोचित दुर्बलताएँ भी हैं, किन्तु वह पुत्रवत्सल, कवि, कलाकोविद एवं कर्त्तव्यपरायण राजा है।

शकुन्तला निसर्गकन्या है, 'प्रकृति की गोद में पलकर उसकी हृदय-लतिका ने चेतन-अचेतन सभी को स्नेह के ललित बन्धन से बाँध रखा है। पिता कण्व के प्रति उसके हृदय में निस्सीम प्रेम है। प्रियंवदा और अनसूया तो उसके प्राणों में घुल-मिल गई है।

कण्व को कवि ने सद्ग स्थ एवं स्नेह-वत्सल पिता के रूप में चित्रित किया है। गौतमी आश्रम की कल्याणी है, वह अत्यन्त शान्त चित्रित की गई है। प्रियंवदा और अनूसया के बिना शकुन्तला का चित्र उभरकर नहीं आता। प्रियंवदा अत्यन्त मधुर भाषिणी, विनोदशीला एवं उत्फुल्लवदना है। यथा नाम तथा गुण। अनसूया गम्भीर, विवेकशीला एवं कठिनस्थिति में सभी को उचित परामर्श देने वाली बुद्धि है। उसे सदा आश्रम के गौरव और मर्यादा का ध्यान रहता है। चिन्ताशील होने के साथ वह सहृदय और बुद्धिमती भी है। किन्तु मतोगत भावों व मर्म की बात समझने में प्रियंवदा ही अधिक कुशल है।

रस

शाकुन्तल में श्र ंगाररस प्रधान है। श्र ंगार के दोनों पक्षों-सम्भोग और विप्रलम्भ-का सुन्दर परिपाक इस नाटक में दर्शनीय हैं। जहाँ शकुन्तला के नैसर्गिक सौन्दर्य का पवित्र वर्णन है, वहीं उसके हाव-भाव रतिभाव को जगाने वाले हैं। दुष्यन्त उनके रूप से विभोर हो उठता है।

शाकुन्तल में कालिदास ने प्रेम और सौन्दर्य का सुन्दर साम जस्य प्रस्तुत किया है। नायिका शकुन्तला के सौन्दर्य का यह वर्णन कितना पवित्र और मनोहारी है। यह वर्णन हृदय में सौन्दर्य-सरिता की पवित्र धारा बहाने वाला है-

मानषीषु कथं वा स्यादस्य रूपस्य सम्भवः।
न प्रभातरलं ज्योतिरूदेति वसुधातलात्।।

उसका सौन्दर्य मानवीय सौन्दर्य में अनुपम है। राजा दुष्यन्त को महान् आश्चर्य होता है कि मनुष्य जाति में ऐसा रूप कैसे सम्भव हुआ? प्रकाश से तरल ज्योति कहीं प थ्वी से उत्पन्न होती है। शकुन्तला के अभुक्त कौमार्य का वर्णन करते हुए कवि ने बड़ी कोमलता एवं पवित्रता का भाव दर्शाया है-

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहैर-
नाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम्।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं न
जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः।।

शकुन्तला अनाघ्रात पुष्प की भाँति अभुक्तपूर्व यौवना है। उसका अछूता यौवन बड़ा मनोरम है। इसी प्रकार शकुन्तला के हृदय में उठने वाली प्रेम की शीलयुक्त अनुभूति का बहुत ही मनोहारी वर्णन निम्नलिखित पद्य में हुआ है-

दर्भाकुरेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे
तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा।
आसीद्विव त्तवदना च विमोचयन्ती
शाखासु वल्कलमसक्तमपि द्रुमाणाम्।।

"शकुन्तला शील से इतनी दबी हुई थी कि न तो वह अपने प्रेम को छिपा ही पा रही थी और न खुलकर प्रकट ही कर पा रही थी। राजा दुष्यन्त से मिलने के पश्चात् जब शकुन्तला जाने लगी, उस समय शिष्टता की रक्षा करते हुए भी उसने अपना प्रेम जता ही दिया। क्योंकि कुछ दूर चलने पर वह सुन्दरी सहसा यह कहकर रूक गई 'अरे मेरे पाँव में दाभ का काँटा चुभ गया है।' और यद्यपि उसका वल्कल कहीं उलझा नहीं था, फिर भी धीरे-धीरे वल्कल सुलझाने का बहाना करके वह मेरी ओर देखती हुई कुछ देर खड़ी रही।"

दुष्यन्त और शकुन्तला का एक दूसरे के प्रति आकर्षण भी बड़ा मधुर है, क्योंकि **'मनो हि जन्मान्तरसंगीतज्ञम्।'** दुष्यन्त और शकुन्तला के मधुर सम्बन्ध का कालिदास ने बड़ी सहृदयता से मार्मिक चित्रण किया है। इस नाटक में विप्रलम्भ श्रंगार का बड़ा अनुभूतिपूर्ण चित्रण किया है। यदि शकुन्तला विरहविह्वला है तो दुष्यंत की विरह वेदना भी तीव्र है।

इस नाटक में विदूषक के द्वारा शिष्ट हास्य की योजना है तो वात्सल्य भाव का चित्रण करने में भी कवि ने अपना कौशल दिखाया है। अन्तिम अंक में सर्वदमन की बाललीला का वर्णन बड़ा मनोहारी है।

शाकुन्तल में कालिदास ने केवल मानव-सौन्दर्य का ही वर्णन नहीं किया, वरन् प्रकृति सौन्दर्य के चित्रों का भी अत्यन्त भव्य एवं मनोहारी चित्रण प्रस्तुत किया है।

'शाकुन्तल' में प्रकृति-माधुरी

डॉ॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में 'अभिज्ञान शाकुन्तल' संसार की सर्वश्रेष्ठ कृतियों में अन्यतम है। कालिदास ने शकुन्तला को निसर्ग कन्या के रूप में चित्रित किया है। वह तपोवन के व क्ष, लता, पशु-पक्षियों के समान प्रकृति से उत्पन्न सुकोमल-लता की भाँति है। प्रत्येक लता उसे अपनी बहन समझती है और वह समूचे आश्रम की प्रत्येक वस्तु को अपना सगा मानती है। जिस वनज्योत्स्ना को उसने लता-भगिनी के रूप में स्वीकार किया था और जिसका विवाह उसने नवीन सहकार व क्ष (आम) से किया था, वह उसके उपकार से गद्गद जान पड़ती है। विद्वानों का अनुमान है कि इसी वनज्योत्स्ना ने भँवरे को छोड़कर उसके लिए अनुकूल वर ढूँढने का उपक्रम किया था। म ग-शिशु उसके हृदय की बात जानता है और किसी अज्ञात सहजात व त्ति के द्वारा भविष्य की हृदयविदारक घटना का आभास पा जाता है। वह दुष्यन्त के द्वारा दिया जल नहीं पीता और विदाई के समय पीछे से आकर उसका कपड़ा खींचने लगता है, मानो भावी घटना को वह जान गया हो और शकुन्तला को पतिग ह जाने से रोकना चाहता हो। चक्रवाक युवा चक्रवाकी की पुकार का उत्तर नहीं देता। मानो वह इंगित से बता देना चाहता हो कि इस यात्रा का परिणाम शकुन्तला के लिए भी ऐसा ही कुछ होने वाला है। उसके वियोग की आशंका से सारी वनस्थली रो पड़ती है। व क्ष आँसू की तरह पीले पत्ते गिराते हैं, म गयूथ आधी चरी हुई घास मुँह में लिये हुए व्याकुल भाव से ठिठक जाते हैं, मयूर नाचना छोड़ देते हैं और लताएँ अपने दीर्घ निःश्वास की भाँति भ्रमरियों को उड़ा देती है।"

वल्कल ही शकुन्तला का मण्डन है, क्योंकि मधुर आकृतियों के लिए कौन सी वस्तु मण्डन नहीं हो जाती-

इयमधिमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी।
किमिव हि मधुराणां मंडनं नाकृतीनाम्।।

शकुन्तला को प्रकृति के साहचर्य में परिपूर्णता प्राप्त होती है। उसके पतिग ह जाते समय कण्व ने अपने आश्रम के लता व क्षादि को सम्बोधन करते हुए जो कहा, उसमें शकुन्तला के इस नैसर्गिक भाव की पूर्ण अभिव्यक्ति होती है-

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या,
नादत्ते प्रियमंडनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।
आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः,
सेयं याति शकुन्तला पतिग हं सर्वैरनुज्ञायताम्।।

अर्थात् पतिग ह जाने वाली शकुन्तला को आप अनुज्ञा दें। यह वही शकुन्तला है जो आपको पिलाए बिना कभी स्वयं जल नहीं पीती थी और आपके प्रथम पुष्पोद्गम के समय उत्सव रचाया करती थी । यद्यपि वह सहज प्रसाधनप्रिय है, किन्तु तुम्हारे ऊपर उसका इतना स्नेह था कि अपने शरीर को सजाने के लिए भी उसने कभी तुम्हारा पल्लव नहीं तोड़ा-

पद्मिनी पत्रान्तरितां व्याहृतो नानुव्याहरति प्रियाम्।
मुखोद्वूढम णालस्त्वयि द ष्टिं ददाति चक्रवाकः।।

अनसूया शकुन्तला से कहती है-हे सखी! यहाँ आश्रम में कौन ऐसा प्राणी है जो तुम्हारे विछोह से दुखी नहीं होता। देखो-कमलिनी के पत्ते की ओट में बैठा हुआ चकवा अपनी प्यारी के बुलाने पर

भी उसका उत्तर नहीं दे रहा है और चोंच में कमल की डंडी पकड़े हुए तुम्हारी ही ओर टकटकी लगाए देख रहा है।

युग का चित्रण

महाकवि कालिदास ने अपने नाटकों में तत्कालीन समाज का चित्रण प्रसंगतः किया है। शाकुन्तल में तत्कालीन सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, धार्मिक एवं पारिवारिक परिस्थितियों का यथार्थ चित्रण मिलता है। उस युग में वर्णाश्रम व्यवस्था सुचारू रूप से चल रही थी। यद्यपि देश में राजतन्त्र प्रणाली थी, किन्तु राजा निरंकुश न थे, ऋषियों एवं विद्वान् ब्राह्मणों का उन पर बहुत बड़ा अंकुश था। राजा को अपनी प्रजा एवं आश्रमों की मर्यादा का सदा ध्यान रहता था और वह पुत्रवत् उनका पालन एवं रक्षण करता था-**प्रजाः प्रजाः स्वा इव तन्त्रयित्वा' 'स्वसुखनिरभिलासः खिद्यसे लोकहेतो।**' आदि इसके उदाहरण हैं। उस युग में आश्रमों का वातावरण बड़ा पवित्र, शान्तिप्रद एवं मर्यादित था।

विक्रमोर्वशीयम्

विक्रमोर्वशीयम् कालिदास द्वारा रचित एक उपरूपक है। यह पाँच अंक का त्रोटक उपरूपकप्रभेद है। इसमें राजा पुरवा तथा उर्वशी नाम अप्सरा की प्रणय-कथा वर्णित है। उर्वशी और पुरूवा का आख्यान अत्यन्त प्राचीन है। यह ऋग्वेद के दशम मण्डल के ६५ संख्या के सूक्त पुरूवा-उर्वशी संवाद के रूप में तथा अनेक पुराणों में भी प्राप्त है। कालिदास ने वैदिक आख्यान को भाव-भाषा और शैली की मौलिकता से नवीन रूप दे दिया है। इसमें कवि-कल्पना प्रस्फुटित है। भरतमुनि का शाप, कार्त्तिकेय द्वारा किया गया नियम, उर्वशी का लतारूप में परिवर्तन, पुरूरवा का उन्मादपूर्ण प्रलाप और पंचम अंक का पूरा प्रकरण कालिदास की नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के परिणाम हैं, जिनसे इस कथा में नाटकीयता आ गई है। इस त्रोटक में श्रृंगार के दोनों पक्ष-संयोग और वियोग-का

उत्तम परिपोष हुआ है। पात्रों की संख्या कम होने पर भी उनका चित्रण मर्मस्पर्शी है। इसकी भाषा 'शाकुन्तल' की भाँति मँजी और मुहावरेदार न होते हुए भी प्रसाद गुण सम्पन्न तथा सौष्ठवयुक्त है। इस त्रोटक के लघु छन्दों की विविधता तथा मधुरता मार्मिक है। यथा -

सर्वः कल्पे वयसि यतते लब्धमर्थान् कुटुम्बी
पश्चात्पुत्रैरपहृतभरः कल्पते विश्रमाय।
अस्माकं तु प्रतिदिनमियं सादयन्ती शरीरं
सेवाकारापरिणतिरभूत्स्त्रीषु कष्टो धिकारः।

कंचुकी कहता है कि युवावस्था में सभी धन एकत्र करना चाहते हैं, पीछे वे पुत्रों पर सब भार सौंपकर विश्राम करते हैं, परन्तु हम कंचुकियों की बात ही दूसरी है। प्रतिदिन सेवा करते चलो, शरीर खपा दो, यह सेवाव ति तो कारावास हो गई। वास्तव में स्त्रियों की सेवा में रहना बड़ा कष्टप्रद होता है।

कालिदास ने उर्वशी की सौन्दर्यशालिनी मूर्ति के निर्माण में अलौकिक तत्त्वों का समावेश किया है, जिनसे पुरूरवा के हृदय में उसके सौन्दर्य की प्रतिक्रिया से तीव्र अनुभूति निम्नलिखित श्लोक में प्रस्तुत वितर्कों में उपस्थित होती है। उर्वशी के रूप-सौन्दर्य की कविहृदयजनित कल्पना अपनी सहज रमणीयता के साथ सहृदय के हृदय में उद्भाषित हो उठती है-

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः
श्र ंगारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः।।
वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्याव त्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः।।

अर्थात् इसकी उत्पत्ति के समय कान्तिप्रदाता चन्द्र अथवा श्र ंगार में ही रस लेने वाला मदन या स्वयं पुष्पों का आकर रूप वसन्त ही तो प्रजापति नहीं बन गया था? अवश्य बना होगा, क्योंकि विषयों में अनासक्त वेदाभ्यास से जड़ पुराना मुनि विधाता क्या इस मनोहर रूप को बना सकता है? कदापि नहीं।

मालविकाग्नि मित्र

डॉ॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में, "मालविकाग्निमित्र" यद्यपि नाटिका नहीं है, परन्तु इस नाटक में बहुत कुछ नाटिका के समान ही है। इसके सारे द श्य अन्तःपुर तक ही सीमाबद्ध हैं। मालविका पटरानी धारिणी की परिचारिका है। उसके लिए गणदास नामक न त्याचार्य से न त्य-संगीत की शिक्षा प्राप्त करने की व्यवस्था स्वयं पटरानी धारिणी ही करती है। मालविका के एक चित्र को देखकर राजा उस पर अनुरक्त होता है। रानी धारिणी उसे राजा की नजरों से बचाने का प्रयत्न करती है। राजा के प्रणय-सखा विदूषक गौतम के छल-प्रपंच से दो न त्याचार्यो का विवाद होता है। दोनों अपनी शिष्याओं को प्रतिद्वन्द्विता के लिए राजा, रानी और परिचारिका के सामने उपस्थित करते हैं। यहीं मालविका न त्य करती है और राजा मालविका को प्रत्यक्ष देख पाता है। प्रथम दो अंकों की यही कथा है। यद्यपि चरित्रचित्रण और नैतिक आदर्श की द ष्टि से इसमें कालिदास की महिमा के उपयुक्त कुछ भी नहीं, परन्तु भावलालित्य और सौन्दर्य-चित्रण की द ष्टि से ये अंक सफल कहे जा सकते हैं।" प्रस्तुत नाटक के दो अंकों की कथावस्तु से स्पष्ट हो जाता है कि इसमें राजपरिवारों के अन्तःपुर की विलासिता और षडयन्त्र लीला का प्राधान्य है। नाटक से कालिदास की न त्य, संगीत एवं चित्रकला के प्रति रुचि एवं इनमें पारंगतता सिद्ध होती है। इस नाटक में कवि ने वसन्तोत्सव के अवसर पर संगीत की सुन्दर योजना प्रदर्शित की है। वन्सतोत्सव के आते ही जड़-चेतन आनन्दविभोर हो जाते हैं, उद्यान कुसुमित होने लगते हैं। वात्स्यायन ने भी लिखा है

'सुवसन्तो मदनोत्सवः' तत्र न त्य-गीत-वाद्य-प्रायः क्रीड़ाः।

कालिदास की प्रेरणा का उद्गम और भारतीय संस्कृति

महाकवि कालिदास ने परवर्ती संस्कृत साहित्य को व्यापक रूप से प्रेरित एवं प्रभावित किया। स्वयं कालिदास ने वैदिक साहित्य, रामायण, महाभारत, भास, सौम्मिल आदि से प्रेरणा ग्रहण की। मेघदूत के पद्यों पर वाल्मीकीय रामायण के प्रकृति-वर्णन का प्रभाव स्पष्ट है। 'रघुवंश' महाकाव्य पर भी रामायण का व्यापक प्रभाव है। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का कथानक महाभारत से ग्रहण करके कवि ने अपनी कला-चातुरी प्रदर्शित की है और दुष्यन्त तथा शकुन्तला के चरित्रों को नवीनता एवं संशोधन प्रदान किया। 'शाकुन्तल' महाकवि की अत्यन्त मनोरम स ष्टि है। महाकवि नाटककार भास का प्रभाव कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' एवं 'अभिज्ञान शाकुन्तल' पर परिलक्षित होता है, किन्तु कालिदास की प्रतिभा के कारण ही 'शाकुन्तल' विश्व साहित्य की उत्कृष्ट एवं अद्वितीय कृति बन गई।

कालिदास के साहित्य और वात्स्यायन के कामसूत्र में भी साम्य-प्रभाव परिलक्षित होता है। संभवतः दोनों समकालीन रहे हों। म॰ म॰ हरप्रसाद शास्त्री ने कहा है कि कालिदास का कामशास्त्र-सम्बन्धी ज्ञान गहरा था। कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का निम्नांकित श्लोक देखिए-

शुश्रूषस्व गुरून् कुरू प्रियसखीव त्तिं सपत्नीजने
भर्तुर्विप्रकृता पि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं ग हिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः।।

वात्स्यायन के निम्नांकित सूत्र से उपर्युक्त श्लोक को मिलाइये-

श्वश्रुश्वसुरपरिचर्या तत्पारतंत्र्यमनुत्तरवादिता आदि।।३७।।
भोगेनवनुत्सेकः।।३६।। परिजने दाक्षिण्यं।।४०।। (कामसूत्र ४।१)

इस साम्य को लक्ष्य करके विद्वानों ने कालिदास के काव्य का 'कामसूत्र' पर प्रभाव माना है। रघुवंश में अज और इन्दुमती-विवाह-प्रसंग में कवि कहता है-

आसीद्वरः कंटकितप्रकोष्ठः स्विन्नांगुलिः संवव ते कुमारी।
तस्मिन्द्वये तत्क्षणमात्मव त्तिः समं विभक्तेव मनोभवेन।।

अज ने इन्दुमति का पाणिग्रहण किया, तब उसके हाथों में रोमांच हो उठा था और इन्दुमति की उंगलियाँ भी पसीने से गीली हो गई थी। कुमारसंभव में इसी विषय को महाकवि भिन्न क्रम एवं पदावली में प्रस्तुत करता है-

'रोमोद्गमः प्रादुरभूदुमायाः स्विन्नांगुलिः पुंगवकेतुरासीत्'

पदम्भूषण पं॰ सूर्यनारायण व्यास कालिदास की स्थिति वात्स्यायन से पूर्व मानते हैं। उन्होंनें कालिदास के साहित्य एवं वात्स्यायन के कामसूत्र का तुलनात्मक सोदाहरण अध्ययन करके यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया है-''इस प्रकार वात्स्यायन के समाज का, उसकी स्थिति का कालिदास के वर्णन में बहुत साम्य है। वात्स्यायन के अध्ययन से यह प्रमाणित होता है कि वह कालिदास के बाद प्रथम शती में हुआ। कालिदास अग्निमित्र के समय में था और वात्स्यायन उसके पश्चात् मालवे में रहा है।'' वात्स्यायन ने लिखा भी है-

अवंतिका उज्जयिनी देशभवाः, ता एव अपरमालव्यः।।

कालिदास संस्कृत और भारतीय संस्कृति के महान् एवं अमर कवि हैं। उनकी 'यशःकाया' अमर है-

'जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशः काये जरामरणजं भयम्।।

महाकवि अश्वघोष-बौद्धनाटककार

महाकवि अश्वघोष सम्राट् कनिष्क (७८ ई॰ से १२० ई॰ राज्यकाल) के राजगुरू एवं आश्रित दरबारी कवि थे। इनके दो महाकाव्य प्राप्त होते हैं, इनके अतिरिक्त १६१० ई॰ में तीन रूपकों का भी पता

चला है। सन् १६१० ई० में **ल्यूडर्स** नामक पाश्चात्त्य विद्वान् को मध्य एशिया में प्राचीन हस्तलिखित लेखों की खोज में तीन रूपक मिले, जिनमें एक का नाम **'शारिपुत्रप्रकरण'** है तथा दो अन्य अपूर्ण दशा में हैं, जिनके नाम एवं रचनाक्रम तक का ठीक पता नहीं चलता।

शारिपुत्रकरण

शारिपुत्रकरण या शारद्पुत्र प्रकरण जिस हस्तलेख संग्रह में प्राप्त हुआ, उसमें ग्रन्थ के अन्त में लेखक का निर्देश है। यह प्रकरण नौ अंक का है। इसमें महात्मा गौतम बुद्ध द्वारा शारिपुत्र और मौद्गलायन नामक दो युवकों की बौद्धधर्म में दीक्षित होने की कथा का रोचक वर्णन है। इस प्रकरण में नाट्यशास्त्रीय नियमों का पालन किया गया है। इसमें भरतवाक्य के सम्बन्ध में नवीनता है। भरत-वाक्य नायक द्वारा प्रार्थना के रूप में प्रयुक्त नहीं हुआ है, वरन् महात्मा गौतमबुद्ध द्वारा नवदीक्षित शिष्यों के प्रति आशीर्वाद के रूप में प्रयुक्त है। डा० कीथ का मत है कि बुद्ध की उपस्थिति में अश्वघोष ने नायक द्वारा भरतवाक्य का परम्परासिद्ध विनियोग उचित नहीं समझा। यह परम्परा अश्वघोष के बाद भी चलती रही।

अश्वघोष के **'शारिपुत्रप्रकरण'** के हस्तलेख के साथ ल्यूडर्स को प्राप्त हुए अन्य दो रूपक भाषा-शैली की द ष्टि से अश्वघोष की रचना प्रतीत होते हैं। इनमें नाट्य-शास्त्र के नियमानुसार विदूषक ब्राह्मण और हास्यप्रिय है। इनमें से एक का कथानक कृष्णमिश्र कृत 'प्रबोधचन्द्रोदय' की भाँति प्रतीकात्मक है तथा ध ति, बुद्धि, कीर्ति और बुद्ध पात्रों के रूप में वर्णित है। दूसरा नाटक म च्छकटिक की भाँति वेश्या को नायिका बनाकर चलता है।

राजा शूद्रक का म च्छकटिक

'म च्छकटिक' संस्कृत-नाट्य-साहित्य का अनुपम रत्न है। इसकी प्रस्तावना में राजा शूद्रक को इस नाटक का कर्ता बताया है-'राजा शूद्रक क्षत्रियों में श्रेष्ठ, देखने में सुन्दर एवं विद्वान् थे। वे ऋग्वेद, सामवेद, गणित,वैशिकीकला एवं हस्ति-शास्त्र के पण्डित थे। इन्हें शंकर की कृपा से परमतत्त्व का ज्ञान प्राप्त हुआ था। ये उत्तम कवि होने के साथ ही, बड़े बलवान एवं पराक्रमी थे। इनकी वीर योद्धाओं एवं हाथियों से बाहुयुद्ध करने में विशेष रूचि थी। इन्होंने अश्वमेधयज्ञ भी किया था और अन्त में पुत्र को राज्यसिंहासन देकर सौ वर्ष दस दिन की आयु पाकर अग्नि-प्रवेश किया।'

शूद्रक के सम्बन्ध में विद्वानों में बहुत मतभेद हैं। कुछ विद्वान् म च्छकटिक की प्रस्तावना में वर्णित शूद्रक को कल्पित पुरुष मानते हैं, तो दूसरे उसे इतिहाससिद्ध राजा। डॉ० कीथ के अनुसार शूद्रक म च्छकटिक का कर्ता नहीं है, वह कल्पित पुरुष है। डॉ० लेवी, कीथ के मत का समर्थन करते हैं। उनका मत है कि अपनी कृति को प्राचीनता का रंग देने के लिए अज्ञात लेखक ने उसे शूद्रक के नाम पर चला दिया। डॉ० देवस्थली ने डॉ० कीथ और लेवी के मतों का खण्डन किया है। पिशेल दण्डी को म च्छकटिक का कर्ता मानते हैं। उन्होंनें म च्छकटिक के एक श्लोक को दण्डी के काव्यादर्श में देखकर यह कल्पना की है। श्री करमरकर ने भी दण्डी के काव्यादर्श और म च्छकटिक के समान रूप से पाये जाने वाले कुछ विचार एवं शब्दावली का दिग्दर्शन कराया है, किन्तु काव्यादर्श में उद्धरणों का बाहुल्य है। दण्डी ने सभी उद्धरणों के साथ मूल कर्त्ता का उल्लेख नहीं किया है। अतः इनमें समानता दोनों का कर्त्ता एक सिद्ध करने के लिए पर्याप्त नहीं है, डॉ० देवस्थली ने परम्परा के आधार पर शूद्रक को म च्छकटिक का कर्त्ता माना है, किन्तु उसकी किसी ऐतिहासिक राजा से अभिन्नता सिद्ध नहीं कर सके हैं। विभिन्न विद्वानों ने शूद्रक के विषय में भिन्न मत व्यक्त किए हैं। शूद्रक का नाम संस्कृत साहित्य के अनेक ग्रन्थों में आया है। दशकुमार-चरित, कादम्बरी, हर्षचरित, राजतरंगिणी, वेतालपंचविंशति, विक्रान्तशूद्रक, शूद्रकवध, शूद्रकचरित, अवन्तिसुन्दरी कथासार आदि

ग्रन्थ शूद्रक और उसके चरित्र का वर्णन करते हैं, किन्तु कालान्तर में शूद्रक का नाम काल्पनिक प्रतीत होने लगा, अतः उसका किसी प्राचीन भारतीय राजा से साम्य स्थापित करना सम्भव न रहा।

म च्छकटिक का काल

शूद्रक का समय अज्ञात है, अतः म च्छकटिक के काल का निर्धारण करने का आधार भास का 'दरिद्र चारूदत्त' एवं वामन का 'काव्यालंकारसूत्रव त्ति' है। म च्छकटिक का निर्माण 'दरिद्र चारूदत्त' के आधार पर हुआ है और वामन ने अपने ग्रन्थ में इसका उल्लेख किया है। भास का समय ई॰ पू॰ ४०० और वामन का ८०० ई॰ के लगभग है। ईसवी ५०० के लगभग पंचतन्त्र में म च्छकटिक के दो श्लोक और एक पंक्ति मिली है, अतः म च्छकटिक ने रचनाकाल की ऊपरी सीमा ईसा की पंचम शताब्दी ठहरती है। म च्छकटिक में वर्णित देश की राजनीतिक एवं सामाजिक अवस्था के आधार पर म च्छकटिक का निर्माण काल पंचम शताब्दी ईसवी के लगभग निश्चित किया जा सकता है।

समाज का सर्वांगीण चित्रण

म च्छकटिक संस्कृत नाटकों में अपनी सामाजिक परिस्थितियों के यथार्थ निरूपण के लिए सुप्रसिद्ध है। इसमें तत्कालीन भारतीय समाज का सर्वांगीण चित्रण कवि ने अपनी कल्पनामयी तूलिका से रंग भरकर प्रस्तुत किया है, किन्तु यह यथार्थ चित्रण है। इसमें समाज के केवल उच्च वर्ग का ही चित्रण नहीं हुआ है, वरन् चोर, जुआरी, धूर्त, क्रान्तिकारी, कुट्टनी, वेश्या, पुलिस-कर्मचारी एवं अधिकारी, राजा, ब्राह्मण आदि सभी वर्गों के पात्र अपने समस्त व्यापार से समाज के व्यापक रूप को हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं।

रस

प्रस्तुत प्रकरण का प्रतिपाद्य ब्राह्मण चारुदत्त और गणिका वसन्तसेना का प्रणय वर्णन है। गणिका सामान्य नायिका होती है, उसके प्रेम में आत्मार्पण नहीं होता, अतः उसका प्रेम रस की स्थिति तक नहीं पहुँचता। उसे रसाभास ही कहा जा सकता है। किन्तु प्रस्तुत प्रकरण की सामान्या नायिका अनन्य प्रेमिका है। वह एक कुलीन स्त्री का-सा व्यवहार करती है। वह एक ही पुरुष के प्रति अनुरक्त है। वह अत्यन्त रूपसम्पन्ना है। इस प्रकार उसके प्रेम के द्वारा कवि ने श्र ंगार रस की अभिव्यंजना की है। म च्छकटिक में सम्भोग एवं विप्रलम्भ श्र ंगार दोनों का मार्मिक वर्णन है। सम्भोग श्र ंगार का यह चित्र देखिए-

धन्यासि तेषां खलु जीवितानि ये कामिनीनां ग हमागतानाम्।
आर्द्राणि मेघोदकशीतलानि गात्राणि गात्रेषु परिष्वजन्ति।।

चारुदत्त वर्षा में भीगकर आती हुई अपनी प्रेमिका का आलिंगन करके कहता है कि उन प्रेमियों का जीवन निश्चित रूप से धन्य है, जो घर पर आई हुई कामनियों के, वर्षाजल से भीगे हुए शीतल शरीर को अपने शरीर से आलिंगित करने का सौभाग्य प्राप्त करते हैं।'

म च्छकटिक में विप्रलम्भ श्र ंगार की भी सुन्दर व्यंजना हुई है। नारी की वेदना के प्रति नारी ही अधिक संवेदनशील होती है, अतः नायिका वसन्तसेना प्रियमिलन में बाधक मेघों से पीड़ित होकर विद्युत् (स्त्रीलिंग) की सहानुभूति जगाना चाहती है; यथा-

यदि गर्जति वारिधरो गर्जतु तन्नाम निष्ठुराः पुरुषाः।
अयि विद्युत्! प्रमदानां त्वमपि च दुःखं न जानासि।।

म च्छकटिक में करुण और हास्यरस का भी यथास्थान समावेश हुआ है। इस नाटक की विशेषता रस-परिपाक की अपेक्षा नाट्य एवं अभिनय में अधिक दिखाई पड़ती है। भावयोजना भी अत्यन्त हृदयग्राहिणी है।

द श्य-वर्णन एवं प्रकृति चित्रण की द ष्टि से बादलों के उठने, फैलने, गरजने, बरसने आदि का यह स्वाभाविक वर्णन सूक्तिपरक है-

उन्नमति नमति वर्षति गर्जति मेघः करोति तिमिरोधम।
प्रथमश्रीरिव पुरुषः करोति रूपाण्यनेकानि।।

उद्दीपन रूप में प्रकृति के चित्र इस प्रकरण में भरे पड़े हैं। कहीं-कहीं और विशेषकर वर्षाकालीन प्रकृति के कुछ रम्य एवं स्वाभाविक चित्र मिलते हैं; यथा-

मेघो जलार्द्रमहिषोदरभ ंगनीलो विद्युत्प्रभा रचितपतिपटोत्तरीयः
आभाति संहतबलाकग हीतशंखः खं केशवो पर इवाक्रमितुं प्रव त्तः

चन्द्रोदय का विचित्र वर्णन इस पद्य में दर्शनीय है-

उदयाति हि शशांकः कामिनी गण्ड-
पाण्डुग्रहगणपरिवारो राजमार्गप्रदीपः।
तिमिरनिकरमध्ये रश्मयों यस्य
गौराः स्रुतजल इव पंके क्षीरधाराः पतन्ति।।

भाषा-शैली

'म च्छकटिक' की भाषा-शैली अत्यन्त सरस एवं प्रसादगुण सम्पन्न है। उसमें स्वाभाविक सरलता सर्वत्र विद्यमान है। कवि ने पात्रानुकूल प्राकृतों का प्रयोग करके अपना वैशिष्ट्य प्रदर्शित किया है। शूद्रक ने लोकोक्तियों और सूक्तियों का पर्याप्त प्रयोग किया है। कहीं कहीं नीतिमय पद्य तथा अनुभूतिमय कथन बड़े मार्मिक हैं, जैसे-**क्रोधः कुपुरुषस्येव स्वगात्रेष्वेव सीदति; गुणयुक्तो दरिद्रो पि नेश्वरैरगुणैः, समः विपत्तिकाले छिद्रेष्वनर्था बहुली भवन्ति।** ऐसे अनुभूतिमय कथन शूद्रक की शैली को विशिष्टता एवं सजीवता प्रदान करते हैं। लोकोक्तियों के प्रयोग से उनकी भाषा शक्तिमती हुई है।

नाटककार विशाखदत्त (चौथी-पाँचवी शताब्दी)

विशाखदत्त का सुप्रसिद्ध नाटक एवं कीर्तिस्तम्भ मुद्राराक्षस है। सुभाषित ग्रन्थों के उद्धरणों से पता चलता है कि इन्होंने 'देवीचन्द्रगुप्त' और 'राघवानन्द' नामक दो नाटकों की रचना और की थी, जिनमें देवीचन्द्रगुप्त ही उपलब्ध है।

स्थितिकाल

इनके स्थितिकाल के सम्बन्ध में विद्वानों में बहुत मतभेद हैं। डॉ॰ कीथ ने विशाखदत्त को भवभूति का परवर्ती माना है। प्रो॰ ध्रुव ने विशाखदत्त द्वारा मुद्राराक्षस में दिए 'भरतवाक्य' पर विचार करते हुए उन्हें छठी शताब्दी ई॰ में विद्यमान माना है। डॉ॰ सत्यव्रतसिंह ने विशाखदत्त के कालनिर्णय के सम्बन्ध में विभिन्न मतों की विवेचना करने के उपरान्त उन्हें चौथी-पाँचवीं शताब्दी का नाटककार मानना ठीक समझा है। उन्होंने लिखा है- 'संस्कृत-नाटक-साहित्य के इतिहास में भास, शूद्रक,

कालिदास और विशाखदत्त ये चार अनुपम विभूतियाँ हैं, जिनकी श्रेणी में कालान्तर में भवभूति आ विराजते हैं। तीसरी से पाँचवीं शताब्दी के युग का नाटक-साहित्य ही उन नाटकों की कला-कृति है, जिनकी कारयित्री प्रतिभा में कोई सन्देह नहीं। यह अवश्य है कि बाद में महाकवि भवभूति की कल्पना, उत्तररामचरित की स ष्टि कर जाती है।' पं॰ बलदेव उपाध्याय के अनुसार 'विशाखदत्त का समय वराहमिहिर से पूर्व प चम शती के मध्य में कभी मानना न्यायसंगत होगा।' उन्होंने अपने इतिहास में विशाखदत्त को भवभूति से पूर्ववर्ती मानते हुए उन्हें प्रथम स्थान दिया है। विद्वानों ने मुद्राराक्षस की शैली एवं सामयिक स्थिति के चित्रण के आधार पर विशाखदत्त का समय चौथी या पाँचवीं शताब्दी ई॰ मानना ठीक समझा है।

मुद्राराक्षस का कथानक

मुद्राराक्षस का कथानक इस प्रकार है। सिकन्दर महान् के आक्रमण के उपरान्त नन्दवंश के अन्तिम राजा को चाणक्य नीति से हटाकर चन्द्रगुप्त को सम्राट् बनाता है। राक्षस इस अन्तिम राजा का अत्यन्त राजभक्त तथा योग्य मन्त्री था। राक्षस ने चन्द्रगुप्त को राजा मानना अस्वीकार कर दिया और अपने स्वामी का बदला लेने की भावना बनायी। परन्तु चाणक्य अपनी चालों से राक्षस को चन्द्रगुप्त के पक्ष में लाने मे सफल होता है, और उसे चन्द्रगुप्त का मन्त्री बना देता है।

संस्कृत-नाटक-साहित्य में 'मुद्राराक्षस' का अपना विशिष्ट स्थान है। इसकी लोकप्रियता तो है ही, इसके अतिरिक्त मुद्राराक्षस में जो विशेषताएँ हैं, वे उसकी अपनी हैं और ऐसी हैं जिनका अनुकरण अथवा अनुसरण करना संस्कृत के नाटककारों के सामर्थ्य के परे रहा है। इसकी पहली विशेषता नाट्यशास्त्र की प्राचीन परम्परा का अक्षरशः अनुकरण न करके नाटककार के द्वारा अपनी वैयक्तिक नाट्य-प्रतिभा की छाप है। पुरानी रूढ़ि के अनुसार इसका नायक ख्यातवंशोद्भव राजा नहीं है, अपितु भारतीय इतिहास के सर्वप्रथम सर्वप्रसिद्ध सम्राट् का निर्माता है। पुरानी प्रणाली में रामायण, महाभारत एवं पुराण ही नाटकीय कथानकों के उपजीव्य रहे हैं। परन्तु इसमें भारतीय इतिहास के स्वर्ण युग की घटना को आधार बनाया है।

मुद्राराक्षस के इतिव त्त-संस्थान की बराबरी सम्भवतः संस्कृत के किसी भी नाटक का इतिव त्त करने में समर्थ नहीं। अतः वस्तु-रचना-शिल्प इस नाटक की दूसरी विशेषता है। इसमें इतिव त्त प्रमुख चरित्र की प्रेरणा से जन्म लेता है। चरित्र-चित्रण की विशदता, प्रभावोत्पादकता एवं महाप्राणता इस नाटक की तीसरी विशेषता है। मुद्राराक्षस का चरित्र-चित्रण तो आदर्श और यथार्थ की सीमाओं का परस्पर समन्वय है। चाणक्य और राक्षस के चरित्र का परस्पर तुलनात्मक चित्रण करते हुए नाटककार ने अपना कौशल प्रकट किया है। मुद्राराक्षस में गजब की नाटकीयता है। इसे पढ़ने या अभिनीत देखने पर एक के बाद एक द श्य आँखों के सामने सजीव हो उठता है। इसमें बड़े सजीव एवं मनोवैज्ञानिक संवाद हैं। मुद्राराक्षस में राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा का ऐसा विषय दिखाया है, जो सामयिक होते हुए भी व्यापक है-देशकाल की सीमा से बद्ध नहीं, तथा इसका रस कभी विरस नहीं हो सकता। इसमें प्रधान रूप में वीररस है।

रचना-शैली

मुद्राराक्षस की रचना शैली सरल, सजीव एवं यथार्थ है। यह घटनाप्रधान नाटक हैं इसमें कूटनीति एवं राजनीति की कुटिल चालों का पूर्ण, सुन्दर एवं सफल चित्रण है, अतः इसकी शैली कृत्रिम नहीं है। यह ऐसी शैली है जो भिन्न-भिन्न भावावेशों में हमारे ही व्यक्तित्व की अभिव्यंजना है। भाषा में ओजोमय गद्य का समावेश है, किन्तु कुछ स्थानों पर भाषा में काव्य का ओजोमय प्रवाह भी है, तथा चाणक्य की इस उक्ति में-

आस्वादितद्विरदशोणितशोणशोभां
सन्ध्यारुणामिव कलां शशला छनस्य।
ज म्भाविदारितमुखस्य मुखात् स्फुरन्तीं
को हर्तुमिच्छति हरेः परिभूय दंष्ट्राम्।।

चाणक्य के क्षोभ को कलात्मक ढंग से व्यक्त किया है कि उसके रहते चन्द्रगुप्त के अपमान और तिस्कार की बात कौन सोच रहा है? कौन है जो सोकर उठे, जम्हाई लेते हुए पशुराज सिंह को दबाकर उसके मुँह से उसकी उन चमकती दाढ़ों को उखाड़ना चाहता है, जिनमें अभी-२ मारकर पीये गये, गजराज के रक्त की लालिमा रह-रह कर झलक रही है ओर जो सन्ध्या की लालिमा से लाल-लाल चन्द्रमा की कला के समान देदीप्यमान हो रही है।

पं॰ बलदेव उपाध्याय के शब्दों में, 'भाषा तथा भाव, शैली तथा कृतित्व, वस्तु तथा पात्र-चित्रण के समीक्षण के बल पर कह सकते हैं कि विशाखदत्त का यह नाटक वास्तव में एक महनीय सफल कृति है। इसमें कालिदास के समान कोमल भावों की सरलता नहीं है, न भवभूति के समान हृदय को रुलाने वाली करुणा का प्रसार है, न भट्टनारायण के समान योद्वाओं को समरांगण में प्राण देने के लिए न्यौता देने वाले नगाड़े की गड़गड़ाहट है, परन्तु इसमें दो विशाल राजनीतिज्ञों के बुद्धि-वैभव के नाना खेलों का विपुल आगार है, मानवता की भव्यमूर्ति को उपस्थित करने वाली नाट्यकला का सुन्दर ओजस्वी रूप है। निस्सन्देह मुद्राराक्षस संस्कृत का सफल नाटक होने के अतिरिक्त विश्वसाहित्य में अपना उचित स्थान बनाए रखने की योग्यता रखता है।

देवीचन्द्रगुप्तम्

विशाखदत्त की प्रारम्भिक कृति 'देवीचन्द्रगुप्तम्' नामक नाट्य-रचना है। यह अपने मूल रूप में उपलब्ध नहीं है, किन्तु 'नाट्यदर्पण' और 'श्रंगारप्रकाश' नामक ग्रन्थों में उसके उद्धरण प्राप्त होते हैं। नाम से प्रतीत होता है कि यह नाटक ऐतिहासिक कथानक को लेकर चलता है और इसमें वीर रस की प्रधानता है, जो ओजोमयी भाषा एवं पदावली से व्यंजित है।

विशाखदत्त की नाट्यकला

डॉ॰ कीथ के शब्दों में 'विशाखदत्त की विशिष्ट-पद रचना की शक्तिमत्ता और सुस्पष्टता श्लाघ्य है। उनके नाटक का समरोचित-स्वरूप, उनकी शैली की स्वच्छता और धारावाहिकता में प्रतिबिम्बित है। उसमें ऐसे खेदजनक समासों का त्याग किया गया है जो भवभूति की कृतियों को विकृत करते है। वे वस्तुतः कलाकार है; उन्होंनें सरस तथा परिमित उपमाओं, रूपकों एवं बिम्बों का विधान किया है। परवर्ती नाटककारों में केवल उन्होंनें ही इस बात को समझा है कि वे एक नाटक लिख रहे हैं, लालित्यपूर्ण लेखांशमाला की रचना नहीं कर रहे हैं। यही कारण है कि संग्रहों में उनके उद्धरण कम पाये जाते हैं। यह बात स्वाभाविक है कि विशाखदत्त जैसे असाधारण पुरुषोचित व त्ति वाले नाटककार में उन संग्रहकारों को अपने काम की वस्तु नहीं मिली।

महाकवि भवभूति

(सातवीं शती का अन्तिम चरण तथा आठवीं शती का प्रथम चरण)

संस्कृत नाटककारों में भवभूति का स्थान बहुत ऊँचा है। कालिदास-जैसे रससिद्ध महाकवि एवं नाटककार की तुलना में संस्कृत-सहित्य में भवभूति ही तुलनीय ठहरते हैं। आलोचकों ने कालिदास के मुख से ही इसकी स्वीकारोक्ति इस प्रकार कराई है-

नाटके भवभूतिर्वा वयं वा वयमेव वा।
उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते।।

चूँकि महाकवि भवभूति को सरस्वती पर पूर्ण अधिकार प्राप्त है, अतः वे गर्वोक्ति करते हैं-

यं ब्राह्मणमियं देवी वाग्वश्येवानुवर्तते।
उत्तरं रामचरितं तत्प्रणीतं प्रयोक्ष्यते।।

'महावीरचरित' नामक नाटक में वर्णित भवभूति के परिचय के अनुसार उनके पूर्वज विदर्भ प्रदेश के पद्मपुर के निवासी, काश्यप गोत्री ब्रह्मवादी थे। वे पंचाग्नि का सेवन करने वाले सद्ग हस्थ थे। 'उदुम्बर' उनकी उपाधि थी। उनके पितामह का नाम भट्टगोपाल, पिता का नीलकण्ठ एवं माता का जतुकर्णी था। भवभूति का नाम 'श्रीकण्ठपद' था। वे व्याकरण, न्याय और मीमांसा के मर्मज्ञ विद्वान् थे।

भवभूति का समय विद्वानों ने प्रचलित मतों की समीक्षा करके सातवीं शती के अन्तिम चरण तथा आठवीं शती के प्रथम चरण के मध्य निश्चित किया है। कल्हण ने राजतरंगिणी में लिखा है कि भवभूति तथा वाक्पतिराज के आश्रयदाता यशोवर्मा को काश्मीर नरेश ललितादित्य ने पराजित किया। वाक्पतिराज ७३३ ई॰ के लगभग जीवित थे, वे भवभूति के समकालीन थे। भवभूति बाणभट्ट के परवर्ती है। बाण का समय सातवीं शती का प्रथमार्द्ध है, अतः भवभूति का समय सातवीं शती का अन्तिम चरण निश्चित होता है।

रचनाएं

भवभूति के तीन रूपक उपलब्ध हैं-महावीरचरित, मालतीमाधव और उत्तररामचरित। महावीरचरित की कथा रामायण से ली गई है और नाटकीय द ष्टि से इसमें परिवर्तन एवं परिवर्द्धन किया है। इसमें रामवनगमन का प्रसंग मिथिला में ही प्रस्तुत कर दिया है। इसमें रावण द्वारा बालि को राम के वध हेतु भेजने का वर्णन है। माल्यवान की मन्त्रणा भी लेखक द्वारा कल्पित है। यह इस नाटक का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थल है। परशुराम का विस्त त वर्णन इस नाटक में काव्य-चमत्कार उत्पन्न करता है। राम का चित्रण इसमें आदर्शवादी के रूप में किया है। राक्षस सीता की मंगनी करता है, लक्ष्मण को यह बात बुरी लगती है, परन्तु राम को इसमें कुछ अनौचित्य प्रतीत नहीं होता। विद्वानों का अनुमान है कि रसपुष्टि एव वर्णन-कौशल की द ष्टि से महावीरचरित ही भवभूति को प्रथम कृति है। उत्तरोत्तर उनकी कला प्रौढ़ होती गई है।

मालतीमाधव में कामन्दकी नामक स्त्री-पात्र बौद्ध संन्यासिनी है, जो अपने आश्रम-धर्म को भुलाकर मालती तथा माधव को विवाह सूत्र में बाँधने का प्रयास करती है। उसकी शिष्या सौदामिनी, अघोरघण्ट तथा कपालकुण्डला के तन्त्रजाल में फँसी है। इस प्रकार मालतीमाधव में बौद्धधर्म के अधःपतन का चित्र दिखाना नाटककार का लक्ष्य है। महावीरचरित तथा उत्तररामचरित में भवभूति ने वैदिक धर्म एवं संस्कृति की उत्तम झाँकी प्रस्तुत की है। श्रीराम का आदर्श चरित्र, लक्ष्मण की आदर्श भ्रात भक्ति, सीता का सतीत्व-सभी भारतीय संस्कृति के आदर्श प्रस्तुत करते हैं।

मालतीमाधव दस अंक का प्रकरण (रूपक का एक भेद) है। इसकी कथा का आधार कथासरित्सागर की प थक्-प थक कथाएँ हैं, जिन्हें भवभूति ने एक सूत्र में गूँथ कर प्रस्तुत किया है। सम्भवतः इसके कथानक के निर्माण में कवि को शूद्रक के म च्छकटिक से प्रेरणा मिली है।

इसमें मालती और माधव के प्रणयबन्धन की कथा वर्णित है। मालती एक राजमंत्री की कन्या है और माधव एक तरुण गरीब विद्यार्थी। मातली के पिता के आश्रयदाता राजा ने मालती का विवाह

अपने एक कृपापात्र से करना तय किया था, किन्तु मालती उसे नहीं चाहती थी। राजा के प्रयत्नों को माधव के सुहृद मकरन्द ने मालती का रूप बनाकर और उसके साथ विवाह कराके निष्फल कर दिया। इस प्रकरण की कथावस्तु एक आकस्मिक घटना पर आधारित है। मालती दो बार म त्यु के मुख में जाने से अचानक ही बच जाती है। इसमें नायक अपनी प्रिया को मेघ के द्वारा संदेश भी भेजता हैं।

मालतीमाधव में माधव मालती के प्रति अपनी अनुरागजनित अनुभूति का परिचय देते हुए कहता है-

परिच्छोदातीतः सकलवचनानामविषयः,
पुनर्जन्मन्यस्मिन्ननुभवपथं यो न गतवान्।
विवेकप्रध्वंसादुपचितमहामोहगहनो,
विकारः को न्यान्र्तजडयति च तापं च कुरूते।।

अर्थात् ज्ञानातीत तथा वाणी के लिए अगोचर कोई भाव अन्तर को जड़ बनाकर संताप उत्पन्न कर रहा है। इसी प्रकार नवोढा प्रिया का यह वर्णन देखिए-

द ष्टा द ष्टिमधो ददाति कुरूते नालापमाभाषिता
शय्यायां परिव त्य तिष्ठति बलादालिंगिता वेपते।।
निर्यान्तीषु सखीसु वासभवनान्निर्गन्तुमेवेहते
जाता वामतयैव संप्रति मम प्रीत्यै नवोढा प्रिया।।

करूणरस के महान कवि

भवभूति रससिद्ध कवीश्वर हैं। उन्होंनें वीर और करुण रस का अत्यन्त मार्मिक चित्रण किया है। 'महावीरचरित' वीररस

प्रधान नाटक है तो 'मालती-माधव' श ंगार रस की मनोहारिणी व्यंजना प्रस्तुत करता है। उत्तररामचरित में करुणरस की मार्मिक व्यंजना हुई है। भवभूति सब रसों में करुण रस को ही विशेष महत्त्व प्रदान करते हुए कहते हैं-

एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्
भिन्न प थक् प थगिवाश्रयते विवर्त्तान्।
आवर्त्तबुद्बुदतरंगमयान् विकारान्
अम्भो यथा सलिलमेव हि तत् समग्रम्।।

'करुणरस ही एकमात्र प्रधान रस है। जिस प्रकार एक ही समुद्र का जल कभी भँवर के रूप को, कभी बुद्बुद के रूप को और कभी तरंगों के रूप को धारण कर लेता है, किन्तु वास्तव में है सब जल ही, उसी प्रकार निमित्तभेद से (रस सामग्री-विभाव, अनुभाव आदि), उसके वैलक्षण्य मात्र से एक ही करुण रस अन्य रसों के रूप को धारण कर लेता है।'

भवभूति ने अपने उक्त आदर्श को 'उत्तरामचरित' नाटक में भलीभाँति स्थापित किया है। इस नाटक में करुण रस की अपूर्व व्यंजना देखकर श्री गोवर्धनाचार्य ने अपनी 'आर्यासप्तशती' में लिखा है-

भवभूतेः सम्बन्धाद् भूधरभूरेव भारती भाति।
एतत्कृतकारुण्ये किमन्यथा रोदिति ग्रावा।।

भवभूति (कवि अथवा शिवजी) के सम्बन्ध से सरस्वती भी शैलाधिराजतनया पार्वती के समान सुशोभित हो रही है, क्योंकि जब यह (भवभूति की वाणी अथवा पार्वती) करुण भाव की व्यंजना (अथवा विलाप) करने लगती है, तब औरों की बात ही क्या, पत्थर भी रो पड़ते हैं।

'उत्तररामचरित' में आद्योपांत करुणरस की सरिता प्रवाहित हो रही है। नाटक के प्रारम्भ में ही श्रीराम जनक के चले जाने पर उदास सीता को सान्त्वना दे रहे हैं। चित्रदर्शन के प्रसंग में भी श्रीराम और सीता अपने अतीत के दुखों का स्मरण कर जिस परितोष का अनुभव करते हैं, वह मार्मिक करुणा से समन्वित है। आगे चलकर त तीय अंक में तो कारूण्य की धारा ही बह रही है। इस अंक में श्रीराम की करुणोक्ति हृदयद्रावक है-

चिरं ध्यात्वा ध्यात्वा निहित इव निर्माय पुरतः
प्रवासे प्याश्वासं न खलु न करोति प्रियजनः।
जगज्जीर्णारण्यं भवति च विकल्पव्युपरमे
कुकूलानां राशौ तदनु हृदयं पच्यत इव।।

'प्रिय का निरन्तर ध्यान करते-करते प्रिय की मूर्ति मानों आँखों के सामने स्थापित हो जाती है और इस प्रकार वियोग में भी वह आश्वासन ही प्रदान करता है। किन्तु ज्यों ही उसकी कल्पित मूर्ति ध्यान से हट जाती है त्यों ही, यह सारा संसार एक सुनसान अरण्य की भाँति प्रतीत होता है और हृदय मानों धधकते हुए अंगारों पर रख दिया जाता है।'

सप्तम अंक में सीता-राम के पुनर्मिलन के मूल में सीता का परित्याग करुण कथानक का बीज है, अतः यह अंक भी तीसरे अंक का ही नैसर्गिक चरमोत्कर्ष है। इसमें भाव गाम्भीर्य और कारुण्यधारा की सुखद-मधुर परिणति है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भवभूति की करुणरस की अभिव्यंजना अत्यन्त गम्भीर एवं मार्मिक है।

उत्तररामचरित की करुणरस की पराकाष्ठा को लक्ष्य करके एक विद्वान् समीक्षक कहता है कि इससे जड़ भी चेतन और चेतन भी जड़ हो जाता है-

जडानामपि चैतन्यं भवभूतेरभूद् गिरा।
ग्रावाप्यरोदीत् पार्वत्या हसतः स्मस्तनावपि।।

प्रकृतिचित्रण

भवभूति संस्कृत-साहित्य के उन महान् कवियों में है, जिन्होंनें प्रकृति के अत्यन्त श्लिष्ट एवं चित्रोपम वर्णन प्रस्तुत किए हैं। उनकी प्राकृतिक अभिरुचि उनके वर्णनों से स्पष्ट है। प्रकृति के प्रति उनका स्वाभाविक अनुराग था। प्रकृति के आलम्बन रूप में किए हुए भवभूति के चित्रण अत्यन्त उत्कृष्ट है। भवभूति ने प्रायः प्रकृति का आलम्बन रूप में ही चित्रण किया है। वाल्मीकि रामायण जैसे प्रकृति के संश्लिष्ट चित्र भवभूति के नाटकों में प्राप्त होते हैं। भवभूति का जन्म विदर्भ प्रान्त में हुआ था। विदर्भ के भीषण प्राकृतिक द श्यों वाले वन-भाग प्रसिद्ध हैं। भवभूति ने उनका अत्यन्त भयंकर एवं चित्रोपम चित्रण किया है। वे अपनी जन्मभूमि के भयंकर काननों की गोद में पले थे, अतः स्वाभाविक रूप से उसी की ओर उन्मुख हैं। भवभूति के प्रकृति-वर्णन की सबसे प्रमुख विशेषता उनका प्रकृति के भयानक रूप के प्रति आकर्षण है। दण्डकारण्य का यह वर्णन द्रष्टव्य है-

निष्कूजस्तिमिताः क्वचित्क्वचिदपि प्रोच्चण्डसत्त्वस्वनाः
स्वेच्छासुप्तगभीराभोगभुजगश्वासप्रदीप्ताग्नयः।

सीमानः प्रदरोदरेषु विलसत्स्वल्पाम्भसो यास्वयं
त ष्यद्भिः प्रतिसूर्यकैरजगरस्वेदद्रवः पीयते।।

अर्थात् 'यह वन (दण्डकारण्य) कहीं इतना शान्त है और कहीं हिंसक पशुओं की प्रचण्ड गर्जना से गूँज रहा है। इसमें कहीं स्वेच्छा से सोए हुए भयानक फूत्कार वाले भुजंगों के श्वास से प्रज्वलित होकर वन में आग लग गई है, कहीं छोटे-छोटे गड्ढों में थोड़ा-सा पानी झिलमिला रहा है तो कहीं त षित गिरगिट अजगर सर्प के शरीर का पसीना पी रहे हैं।'

निश्चय ही यह दण्डकारण्य के अत्यन्त भयंकर रूप का दिग्दर्शन है। मालतीमाधव के पाँचवें अंक का श्मशान वर्णन एवं नवम अंक का वन-वर्णन भी भवभूति की उक्त प्रकृति-वर्णन-विषयक विशेषता का परिचायक है।

भवभूति प्रकृति के भयानक रूप के प्रति अधिक आकृष्ट है, किन्तु उन्होंने उसके मनोरम रूप का भी अत्यन्त सुन्दर चित्रण किया है। प्रकृति के रम्य रूप के उद्घाटन करने में भी उनकी लेखनी कुंठित नहीं होती है। पर्वतों पर बहते हुए झरनों का स्वाभाविक चित्र उनकी लेखनी से निस्स त होकर अत्यन्त कलात्मक बन गया है-

इह समदशकुन्ताक्रान्तवानीरवीरुत्-
प्रसवसुरभिशीतस्वच्छतोया वहन्ति।
फलभरपरिणामश्यामजम्बूनिकु ज-
स्खलनमुखरभूरिस्रोतसो निर्झरिण्यः।।

यह देखिए, पर्वत से झरने बह रहे हैं। इनके किनारे वानीरलता में बैठे मधुरकण्ठ वाले पक्षीगण कलरव-विहार कर रहे हैं। इनके बैठने से लताओं के पुष्प झरनों के जल में गिर-गिरकर उन्हें सुगन्धित बना रहे हैं। पर्वतों से निस्स त होकर इनका शीतल एवं स्वच्छ जल प्रवाहित हो रहा है। उनकी धाराएँ काले फलों के गुच्छों से लदी जम्बू व क्षों के सघन कुंजों से टकराकर शब्दायमान होकर अनेक धाराओं में प्रवाहित हो रही हैं।

भवभूति का प्रकृति के प्रति सहज स्नेह था। उन्होंने लिखा भी है-**'यत्र द्रुमा अपि म गा अपि बांधवो मे (उत्तर॰ ३/६)।'** उनका प्रकृति पर्यवेक्षण मौलिक एवं प्रभावोत्पादक है। उनके हृदय की एकरसता प्रकृति के उदात्त एवं भावोत्तेजक द श्यों में दिखाई पड़ती है।

रस

उत्तरामचरित में करुण रस प्रधान है। इसका विवेचन हम पूर्व प ष्ठों में कर चुके हैं। इस नाटक में श्र ंगाररस की ही सुन्दर योजना है। श्र ंगार के दोनों पक्ष-संयोग और वियोग-इसमें सुनियोजित हैं। श्र ंगार में पवित्र प्रेम का वर्णन है, जो अनिर्वचनीय है **(ह्रदयं त्वेव जानाति प्रीतियोगं परस्परम्)**। इसमें दाम्पत्यप्रेम का वर्णन है और सन्तान इस दाम्पत्य जीवन में आनन्द की ग्रन्थि है-

अन्तःकरणतत्त्वस्य दाम्पत्योः स्नेहसंश्रयात्।
आनन्दग्रन्थिरेको यमपत्यमिति बध्यते।।

भवभूति ने कोमल भावनाओं के साथ ही परुष भावनाओं का चित्रण युद्ध वर्णन में किया है। रौद्ररस का परिपाक कुश के वचनों में हो जाता है। हास्यरस का उदाहरण चतुर्थ अंक (४।२६) में प्रस्तुत है। इस प्रकार उत्तररामचरित में भवभूति समस्त रसों की मार्मिक व्यंजना करने में सफल हुए हैं।

उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते

भवभूति संस्कृत-साहित्य की विभूति है। उनका 'उत्तररामचरित' नाटक संस्कृत का अत्यन्त प्रसिद्ध नाटक है। इसकी विशेषताओं को परिलक्षित करके सहृदय समीक्षकों ने कहा है कि इस नाटक के द्वारा भवभूति कालिदास से भी आगे बढ़ गए हैं, विशिष्ट हो गए हैं।

उत्तररामचरित में रामायण के उत्तरकाण्ड की कथा का रसमय एवं नाटकीय वर्णन है। सीता के वनवास से इनकी कथावस्तु प्रारम्भ होकर राम-सीता के पुनर्मिलन के साथ समाप्त होती है। इस रचना को अधिक कवित्वपूर्ण बनाने के कारण महाकवि अपने इस नाटक के कथानक को सुसंगठित नहीं बना सके हैं। इस नाटक में भाव-धारा प्रधान हो गयी है, किन्तु नाटकीयता की द ष्टि से कथानक में जो शिथिलता आई है, उसकी पूर्ति उत्कृष्ट भावमयता से हो जाती है। डॉ॰ कीथ ने भवभूति के कथानक-संयोजन की इस त्रुटि को लक्ष्य किया है। इसमें कवि ने बारह वर्ष के लम्बे समय की कथा लेकर उसकी एकान्विति का उतना प्रयत्न नहीं किया, जितना प्रभावोत्पादक द श्यों का संयोजन करके इसे काव्यात्मक बनाने का। अतः इसे नाटकीय काव्य की संज्ञा दी जा सकती है।

भवभूति इस रचना में अपनी प्रौढ़ कला का परिचय देते हैं। उनकी विशद वर्णनशक्ति अद्‌भुत है। वे प्रवाहयुक्त शोभा और मार्मिक वेग के साथ वर्णन करने में समर्थ हैं। मानवीय अन्तःप्रकृति के वे जितने सच्चे कलाकार हैं, वैसे ही बाह्य प्रकृति के द श्यांकन के भी। प्रकृति के उदात्त एवं भावोत्तेजक रूप के साथ भवभूति के हृदय की एकरसता विशेष महत्त्वपूर्ण है।

भवभूति का 'उत्तरामचरित' विश्व-साहित्य की वस्तु है। इसमें स्थायी विषय-दाम्पत्य आदर्श का मार्मिक निरूपण हुआ है। धनपाल ने अपनी तिलकमंजरी में भवभूति की नाट्‌यकला की प्रशंसा में एक श्लोक प्रस्तुत किया है-

स्पष्टभावरसा चित्रैः पदन्यासैः प्रवर्तिता।
नाटकेषु नटस्त्रीव भारती भवभूतिना।।

भवभूति के उत्तररामचरित में करुण रस की ऐसी धारा प्रवाहित की जो जड़ को चेतन और चेतन को जड़ बना देने वाली है। सीता का परित्याग राम के करुण विरहपूर्ण अनुसंधान में उज्ज्वल हो जाता है-

जडानामपि चैतन्यं भवभूतेरभूद् गिरा।
ग्रावाप्यरोदीत् पार्वत्या हसतः स्मस्तनावपि।।

आदर्श दाम्पत्य-प्रेम के कवि

दाम्पत्य प्रणय को भवभूति के दुग्ध के समान धवल और गंगाजल के समान पवित्र बताया है-

स्नपयति हृदयेशं स्नेहनिष्यन्दिनी ते।
धवलबहलमुग्धा दुग्धकुल्येव द ष्टिः।।

दाम्पत्य प्रणय की परिणति आनन्दग्रन्थि संतान की प्राप्ति में है-

अन्तःकरणतत्त्वस्य दम्पत्योः स्नेहसंश्रयात्।
आनंदग्रन्थिरेको यमपत्यमिति बध्यते।।

वस्तुतः सन्तान ही पति और पत्नी के स्नेहसिक्त हृदयों को एकसूत्र में निबद्ध करने वाली आनन्दमयी ग्रन्थि है।

शुद्ध प्रेम की ज्योति सुखसमीर एवं दुःख की आँधियों में समान रूप से प्रदीप्त होती है। वार्धक्य के कारण उसकी सरसता में कमी नहीं आती। संकोच एवं दुराव होने पर शुद्ध प्रेम प्रगाढ़ हो जाता है। ऐसे कल्याणकारी दाम्पत्य प्रेम की प्राप्ति बड़े भाग्य से ही होती है। यह हृदय का विश्राम है। प्रिय के सान्निध्यमात्र से प्रेमी का सारा दुःख दूर हो जाता है।

त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं।
त्वं कौमुदी नयनयोरम तं त्वमंगे।।

राम का यह कथन द्रष्टव्य है। वे पहले सीता को अपना प्राण कहते हैं, फिर अपना दूसरा हृदय, तदुपरान्त अपनी आँखों की चन्द्रिका और अन्त में अपने शरीर के लिए अम त बताते हैं। **'अम तं त्वमंगे'** में कवि की विशद कल्पना एवं सौन्दर्य द ष्टि तथा अन्तर्गूढ़ काव्य-सौंदर्य का परिचय मिलता है।

उत्तररामचरित में काव्यात्मकता का प्राधान्य होते हुए भी नाटकीयता का अभाव नहीं है। इसमें हमें भवभूति में एक सच्चे नाटककार एवं कवि की सम्पूर्ण विशेषताएँ मिलती हैं, जैसे उर्वर कल्पना शक्ति, उदात्त और सुन्दर वस्तु एवं भावनाओं का मूल्यांकन, सफल चरित्र-चित्रण की अद्भुत क्षमता, पात्रों के मन में विभिन्न परिस्थितियों एवं रूपों में होने वाली प्रतिक्रिया का ज्ञान और अद्भुत अनुकूल वर्णना शक्ति। उनके काव्य की गति, एवं संगीतात्मक अभिव्यक्ति अपने आकर्षण में अपूर्व है। सहृदयजन उत्तररामचरित की सर्वांगीण विशेषताओं को देखकर एवं उसकी भावमयता से प्रभावित होकर भवभूति को कालिदास से भी बढ़ा हुआ मानते हैं।

कालिदास और भवभूति दोनों ही महान् नाटककार हैं। दोनों ही प्रथम श्रेणी के कलाकार हैं, अतः एक को दूसरे से छोटा या बड़ा कहना संभव नहीं है। उक्त सहृदयों की उक्ति का हमें इतना ही आशय अभिप्रेत जान पड़ता है कि अपने उत्तररामचरित में भवभूति ने अन्य नाटकों से अधिक उत्कर्ष प्राप्त कर लिया है और इस नाटक के आधार पर हम उन्हें संस्कृत नाटक सम्राट् महाकवि कालिदास की तुलना में रख सकते हैं, उनकी समानता में बैठा सकते हैं। कालिदास का विश्व प्रसिद्ध, संस्कृत नाट्य-साहित्य का अनुपम रत्न, अभिज्ञान शाकुन्तल ही भवभूति की प्रस्तुत कृति से साम्य रखता है। उतः उपर्युक्त उक्ति को समझने के लिए हम शाकुन्तल और उत्तररामचरित का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर रहे हैं।

उत्तररामचरित और अभिज्ञान शाकुन्तल

दोनों नाटकों के कथानक में प्रव त्ति का साम्य है। दोनों में ही नायक अपनी पत्नियों का ऐसी अवस्था में त्याग करते हैं, जब वे गर्भ के भार को वहन कर रही हैं। वे दोनों ही परित्यक्तावस्था में उत्तम आश्रय प्राप्त करती हैं। दोनों नायक विरह-मग्न होते हैं, पश्चात्ताप करते हैं। दुष्यन्त के विषाद की कालिमा को विदूषक दूर करने का प्रयत्न करता है, किन्तु राम का विषाद करुणापूर्ण एवं गम्भीर है-क्योंकि **'स्वयं कृत्वा त्यागं विलपनविनोदोप्यसुलभः।'** उनका शोक तो सीता की सखी वासन्ती के म दु एवं कटु उपालम्भों से बढ़ता जाता है।

सीता शकुन्तला से अधिक गम्भीर है। वे परित्याग के समय क्रोध नहीं करतीं, उनका आत्म-त्याग चिरस्थायी प्रेम एवं भारतीय नारी का उज्ज्वल एवं आदर्श रूप प्रस्तुत करता है। इतना पवित्र चित्र कवि ने प्रस्तुत किया है कि उसे अनुपम ही कहा जा सकता है।

दोनों नाटकों का अन्त प्रायः समान है। दोनों नायक अज्ञात भाव से अपने पुत्रों के दर्शन करके मुग्ध होते हैं तथा महर्षियों के आश्रमों में उनकी कृपा से नायिका को प्राप्त करते हैं।

भवभूति पर कालिदास का पर्याप्त प्रभाव परिलक्षित होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तररामचरित के निर्माण में कवि के समक्ष शकुन्तला का आदर्श बराबर बना रहता है। उन्होंने चित्र-दर्शन द श्य को रघुवंश के १४ वें सर्ग के २५ वें श्लोक की प्रेरणा से प्रस्तुत किया है।

कालिदास सिद्धहस्त महाकवि थे। उनमें व्यंजना की प्रधानता है, भवभूति भी रससिद्ध कवि हैं, किन्तु उनमें वाच्यार्थ की प्रगल्भता का प्राधान्य है। कालिदास की शैली में सूक्तियों का प्राधान्य है तो भवभूति विपुल वाग्विस्तार का आश्रय लेकर भाव का संश्लिष्ट चित्र उपस्थित करते हैं। कालिदास की शैली में ध्वनि है, व्यंजना की प्रधानता है, पाठक की कल्पना को जगाकर छोड़ने का स्वभाव है तो भवभूति में विशदता एवं सब कुछ स्वयं कहने की प्रव त्ति। कालिदास ने वैदर्भी रीति का सहारा लिया है तो भवभूति ने गौड़ी का। कालिदास की प्रकृति में सुकुमारता एवं लालित्य है तो भवभूति में प्रचंड एवं भयंकर के प्रति आसक्ति। कालिदास प्रेम और सौन्दर्य के महान् कवि हैं तो भवभूति करुण रस के क्षेत्र में अद्वितीय हैं। कालिदास ने नारी के बाह्य सौन्दर्य का अत्यन्त सूक्ष्म एवं सुन्दर चित्रण किया है तो भवभूति ने नारी के अन्तःस्थ कोमल भावों की मार्मिक एवं विशद व्यंजना। कालिदास ने नारी के शारीरिक सौन्दर्य को विशेष महत्त्व प्रदान किया है- **'श्रोणीभारादलसगमना पक्वबिम्बाधरोष्ठी'**। भवभूति की कल्पना ने नारी के आदर्श रूप को प्रस्तुत किया है- **'इयं गेहे लक्ष्मीरियमय तवर्तिर्नयनयोः**।'

अन्त में हम **भवभूति** के **'उतररामचरित'** और **कालिदास** के **'अभिज्ञान शाकुन्तल'** के सम्बन्ध में बंगला के सुप्रसिद्ध नाटककार **द्विजेन्द्रलालराय** की यह तुलनात्मक टिप्पणी प्रस्तुत करते हैं- "विश्वास की महिमा में, प्रेम की पवित्रता में, भाव की तरंग क्रीड़ा में, भाषा के गाम्भीर्य में और ह्रदय के माहात्म्य में उत्तररामचरित श्रेष्ठ है तो घटनाओं की विचित्रता में, कल्पना के कोमलत्व में, मानवचरित्र के सूक्ष्म विश्लेषण में, भाषा की सरलता और लालित्य में शाकुन्तल, जो शरद् ऋतु की पूर्ण चाँदनी है- उत्तररामचरित नक्षत्र खचित नील आकाश है। एक व्यंजन है दूसरा हविष्यान्न है, एक वसन्त है दूसरा वर्षा, एक न त्य है दूसरा अश्रु। एक उपयोग है दूसरा पूजन।"

श्री हर्षदेव (सम्राट् हर्षवर्धन) (राज्यकाल ६०५ ई० से ६४८ ई०)

नाटककार श्री हर्षदेव सम्राट् हर्षवर्धन ही हैं, इस सम्बन्ध में थोड़ा मतभेद हैं। डॉ० कीथ आदि पाश्चात्त्य विद्वानों का मत है कि हर्षदेवकृत तीनों नाटकों में श्रीहर्ष के राज्य में घटित किसी घटना का उल्लेख नहीं हैं, अतः ये सम्राट् हर्षवर्धन की रचनाएँ नहीं हो सकती। उन्होंने बाण को इनका रचयिता मानने का परामर्श दिया है किन्तु उनका यह मत विद्वानों को मान्य नहीं है। श्री हर्षदेव का राज्यकाल ६०६ ई० से ६४८ ई० तक है, शीलादित्य हर्षदेव का विरुद है।

श्री हर्षदेव के बनाए चार ग्रन्थ हैं, उनमें तीन नाटक है और चौथा ग्रन्थ व्याकरण सम्बन्धी है, जो अभी तक अप्राप्य है। उनके रूपकों के नाम इस प्रकार है- प्रियदर्शिका, रत्नावली और नागानन्द।

प्रियदर्शिका

यह चार अंकों की नाटिका है, जिसमें वत्सराज उदयन के अन्तःपुर की एक प्रेम कहानी चित्रित की गई है। इसके कथानक पर महाकवि कालिदास के मालविकाग्निमित्र का पर्याप्त प्रभाव दिखाई पड़ता है। राजा द ढवर्मा कलिंगराज के साथ युद्ध में पराजित तथा बन्दी हो जाते हैं और उनकी कन्या प्रियदर्शिका, जिसे उनका भ त्य पूर्व संकल्प को सफल करने हेतु उदयन के पास ल रहा था,

मार्ग में ही दुर्घटनावश विपन्नस्थिति में उनके अन्तःपुर पहुँच जाती है और महारानी वासवदत्ता का शरणागत के रूप में दासत्व स्वीकार कर लेती है। आगे चलकर उदयन और आरण्यका (प्रियदर्शिका) का परस्पर साक्षात्कार सहसा ही हो जाता है और वे दोनों सामान्य रीति से एक दूसरे पर अनुरक्त भी हो जाते हैं, और अन्त में दोनों का परिणय होता है।

इस नाटिका का कथानक इतना कुतूहलपूर्ण एवं सरस है कि उपन्यास का सा आनन्द आता है। 'ब हत्कथा से ग हीत मूलकथा को रंग भरकर अत्यन्त रोचक बना दिया है। इस नाटिका की प्रसादगुणयुक्तशैली, सारल्य, अनेक रोचक घटनाओं की स ष्टि इसे सफल बनाने में कृतकार्य हुए हैं। इसमें श्री हर्षदेव का कवित्व भी अत्यन्त मार्मिक हैं।'

रत्नावली

यह श ंगाररस प्रधान नाटिका है। नाट्यशास्त्र के नियमों का इसमें इतना सर्वाङ्गीण पालन हुआ है कि 'दशरूपक' और 'साहित्यदर्पण' में नाट्यतत्त्वों के विवेचन में इसके शताधिक उद्धरण दिये गए हैं। इस नाटिका का नायक राजा उदयन धीरललित नायक है और नायिका रत्नावली को फल रूप में प्राप्त करता है। इसका सम्पूर्ण कथानक कुतूहल से ओतप्रोत है क्योंकि सारी घटनाएँ नाटकीय ढंग से घटित होती है। अभिनय की द ष्टि से भी यह एक सफल नाटिका है। इसमें **'वेष-विपर्यय-द श्य'** अत्यन्त मार्मिक है। रत्नावली नाटिका में काव्य का चारुत्व दर्शनीय है। चरित्रचित्रण भी बड़ा मनोहर एवं मनोवैज्ञानिक है। इसकी शैली सरस एवं प्रसादगुणसम्पन्न है जिनमें दुरूह शब्द एवं कठिन समासबन्ध का अभाव है। इसमें विलासयुक्त प्रणय का वर्णन है, किन्तु भारतीय संस्कृति की मर्यादा-द ष्टि का उल्लंघन नहीं हुआ है।

रत्नावली नाटिका में काव्यत्व की चारुता दर्शनीय है। सन्ध्या वर्णन के प्रसंग में राजा वासवदत्ता का भी वर्णन करता चलता है-

देवि त्वन्मुखपङ्कजेन शशिनः शोभातिरस्कारिणा
पश्याब्जानि विनिर्जितानि सहसा गच्छन्ति विच्छायताम्।
श्रुत्वा त्वत्परिवारवनिता गीतानि भ ंगांगना
लीयन्ते मुकुलोदरेषु शनकैः स जातलज्जा इव।।

एक अन्य श्लोक में सन्ध्या समय का अत्यन्त स्वाभाविक एवं चित्रात्मक वर्णन हुआ है-

यातो स्मि पद्मवदने समयो ममैष
सुप्ता मयैव भवती प्रतिबोधनीया।
प्रत्यायनामयमितीव सरोरुहिण्याः।
सूर्यो स्तमस्तकनिविष्टकरः करोति।।

कमलिनी के झुके हुए मस्तक पर हाथ फेरते हुए अथवा अस्ताचल के शिखर पर अपनी किरण फैलाते हुए प्रस्थानोन्मुख सूर्य कमलिनी को विश्वास दिला रहे हैं कि हे कमलमुखी, अब मैं चला। मेरे जाने का समय हो गया है। तुम विश्वास करो कि कल प्रातः जब तुम सोती हो रहोगी, मैं तुमको आकर जगाऊँगा।

रत्नावली का कथानक उदयन और सागरिका के प्रणय की दो दिन की कथा पर आधारित है, अतः प्रमुखरूप से प्रणयी उदयन का रूप ही हमारे सामने आता है। उदयन के उज्जवल और मधुर चरित्र का तो इसमें संकेतमात्र है।

रस परिपाक

रत्नावली में श ंगार रस प्रधान है। प्रारम्भ में ही वसन्तोत्सव के रूप में मदनोत्सव की योजना की गई है और इस सुन्दर वातावरण में वासवदत्ता एवं उदयन के प्रेम का अंकन हुआ है, जो सरस एवं मधुर है। इसके उपरान्त सागरिका (रत्नावली) के साथ उदयन का प्रणय चलता है। यही इस नाटिका का प्रतिपाद्य है। सागरिका वसन्तोत्सव में उदयन को देखकर मोहित होती है, उसे साक्षात् कामदेव ही समझती है। सारिका उदयन के हृदय में भी सागरिका के प्रति प्रेम जाग त कर देती है। उदयन चित्रस्थ सागरिका के सौन्दर्य का मार्मिक वर्णन करता है-

कृच्छ्रादूरुयुगं व्यतीत्य सुचिरं भ्रान्त्वा नितम्बस्थले,
मध्ये स्यास्त्रिवलीतरंगविषमे निःस्पन्दतामागता।
मद्द ष्टिस्त षितेव सम्प्रति शनैरारुह्य तुङ्गौ स्तनौ,
साकांक्षं मुहुरीक्षते जललवप्रस्यन्दिनी लोचने।।

सागरिका का प्रेम वासवदत्ता पर प्रकट होने पर वह उसके कोप की भाजन बनती है। इस अवसर पर कवि ने प्रेम की असफलता, उसकी पराधीनता, लज्जा, ग्लानि, पीड़ा, भय आदि भावनाओं की मार्मिक व्यंजना एक हाथ उदयन से कराई है-

ह्रिया सर्वस्यासौ हरति विदितास्मीति वदनं,
द्वयोर्द ष्टालापं कलयति कथामात्मविषयाम्।
सखीषु स्मेरासु प्रकटयति वैलक्ष्यमधिकम्।
प्रिया प्रायेणास्ते ह्रदयनिहितातङ्कविधुरा।।

रत्नावली में विप्रलम्भ-श ंगार की मार्मिकता दर्शनीय है। उदयन की विरह जनित वेदना का वर्णन भी सुन्दर बन पड़ा है। 'रत्नावली' में हास्य, भयानक, करुण, आदि रसों की व्यंजना भी मार्मिक है। अन्तःपुर में आग लग जाने से भयभीत होकर स्त्रियों का आर्तनाद देखिए-

हर्म्याणां हेमश ंगश्रियिमिव निर्चियैरचषामादधानः
सान्द्रोद्यानद्रुमाग्रग्लपनपिशुनितात्यन्ततीव्राभितापः।
कुर्वन् क्रीडामहीध्रं सजलजलधरश्यामलं धूमपातैरेष
प्लोषार्तयोषिजन इह सहसैवोत्थितो न्तःपुरे ग्निः।।

नागानन्द

श्री हर्षदेव का 'नागानन्द' नामक नाटक पाँच अंकों का है। यह प्रियदर्शिका और रत्नावली से नाट्य शैली तथा कथानक में भिन्न है। यह वेतालपंचविशति और ब हत्कथा में पायी जाने वाली एक बौद्ध कथा के आधार पर निर्मित है। इसके पूर्वार्ध में विद्याधरकुमार जीमूतवाहन और सिद्ध कन्या मलयवती की प्रेमकथा है और उत्तरार्द्ध में जीमूतवाहन द्वारा गरूड के सर्पभक्षण-त्याग की कथा वर्णित है। गरुड के भोजन के रूप में एक सर्प शंखचूड की बारी थी, जिसके स्थान पर विद्याधरों के राजकुमार जीमूतवाहन ने अपने आपको गरुड के आहार स्वरूप प्रस्तुत किया। गरूड को प्रायश्चित्त हुआ और उसने अब तक मारे गए सारे सर्पो को जीवित कर दिया और बौद्ध मतानुसार अपने जीवन में अहिंसा व त्ति धारण की। जीमूतवाहन का रंगमंच पर प्राणान्त हो गया था, उसे गौरी देवी ने पुनर्जीवित करके विद्याधरों का राजा बना दिया। जीमूतवाहन का सिद्ध

राजकुमारी मलयवती के साथ प्रेम भी इस नाटक में वर्णित है। इसमें वैदर्भी रीति प्रयुक्त हुई है। इसमें नाटककार ने दया, दान, धर्म, आत्मत्याग आदि भावों का मार्मिक वर्णन किया है। नाट्यकला की द ष्टि से यह हर्ष की अन्य रचनाओं से न्यून ही ठहरता है।

श्री हर्ष की रत्नावली ही सर्वश्रेष्ठ रचना कही जा सकती है। इसमें उनकी नाट्यकला का पूर्ण परिपाक मिलता है। यही कारण है कि धन जय के दशरूपक में 'रत्नावली' के श्लोकों को ही नाटकीय रचना के तत्त्वों को समझाने के लिए उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। इसमें नाटिका के समस्त शास्त्रीय नियमों का समुचित ढंग से पालन हुआ है। विषय-वस्तु एवं रूपरचना की द ष्टि से रत्नावली तथा प्रियदर्शिका में साम्य है। दोनों का नायक भास कृत 'स्वप्नवासवदत्ता' का नायक उदयन है। इन दोनों नाटिकाओं में बहुत से प्रणय-प्रसंग भी साम्य रखते हैं। दोनों का मुख्य रस श ंगार है। श्री हर्ष का नागानन्द उनकी दो नाटिकाओं से भिन्न है। नागानन्द में अद्भुत के प्रति नाटककार की रुचि को व्यापक क्षेत्र मिला है। डा० कीथ के शब्दों में इसमें अतिप्राकृत तत्त्वों का स्वच्छन्दता से प्रवेश हुआ है। इस नाटक का प्रेरणा स्रोत बौद्ध हो सकता है, परन्तु जीमूतवाहन के पुनरुज्जीवन के लिए गौरी का प्रवेश कराया गया है। इस नाटक में हर्ष ने आत्म-बलिदान, वदान्यता, उदारहृदयता और काल के मुख में भी द ढ़ संकल्प के भावों का सफल चित्रण किया है। जीमूतवाहन, विलक्षण रूप में निबद्ध होने पर भी, बौद्धों का एक आदर्श है। उसका द ढ़ विश्वास है कि परोपकार के लिए आत्मबलिदान परम-धर्म है।

नागानन्द में शोक की तीव्रानुभूति की अभिव्यक्ति से संयुक्त यह श्लोक कितना करुण है-

निराधारं धैर्यं कमिव शरणं यातु विनयः
क्षमः क्षान्तिं वोढुं क इह विरता दानपरता।
हतं सत्यं सत्यं व्रजतु च कृपाक्वाथ कृपण
जगज्जातं शूल्यं त्वयि तनय! लोकान्तरगते।।

हे तनय! तुम्हारे परलोक जाने से मेरा सारा संसार ही सूना हो गया। धैर्य निराधार हो गया। विनय किसकी शरण ग्रहण करे? अब कौन है जो शान्ति को वहन कर सके? दान प्रथा तो समाप्त हो गई। हाय! आज सत्य मर गया, कृपा दीन हो गई। वह जाय तो कहाँ जाय? संसार ही शून्य हो गया, कोई आश्रय नहीं रहा।

नागानन्द नाटक की रचना एक बौद्ध जातक के आधार पर हुई है। इसमें वैदर्भी शैली प्रयुक्त हुई है और शान्त रस की प्रधानता है। इसमें अन्य रसों का समुचित परिपाक न होने से यह उच्चकोटि की नाट्यकृति नहीं है। इस नाटक का कथानक - संघटन एवं चरित्र-चित्रण भी उत्तम नहीं है। नाट्यकला की द ष्टि से यह हर्षदेव की अन्य कृतियों से न्यून ठहरता है।

इस नाटक के मंगलाचरण और भरतवाक्य में बौद्ध धर्म का प्रभाव लक्षित होता है किन्तु कथानक में ऐसा नही हैं। उसे हिन्दू धर्म के अनुरूप बनाया है। इस नाटक में कार्य व्यापार में अन्विति का अभाव होने से इसकी सफलता संदिग्ध है। इस नाटक का कथानक ब हत्कथा से लिया गया है। यह कथा वेतालपंचविशति में भी पाई जाती है। हर्ष चतुर अनुकरणकर्त्ता है। नागानन्द नाटक से यह बात स्पष्ट हो जाती है। हर्ष ने अन्य नाटककारों एवं कवियों से सामग्री लेकर अपने रूप में प्रयुक्त किया है।

प्रणय और प्रकृति के चारु-वर्णन में हर्ष की निपुणता नागानन्द के इस श्लोक में द्रष्टव्य है -

द ष्टा द ष्टिमधो दाति कुरुते नालापमाभाषिता
शय्यायां परिव त्य तिष्ठति बलादालिंगिता वेपते।
निर्यान्तीषु सखीषु वासभवनान्निर्गन्तुमेवेहते।
जाता वामतयैव मे द्य सुतरां प्रीत्यै नवोढा प्रिया।।

जब में उसकी ओर देखता हूँ तक वह लाज के मारे आँख झुका लेती है, कुछ कहने पर भी उत्तर नहीं देती, पलंग पर मुँह फेरकर बैठ जाती है, आलिंगन करने पर सिहरने लगती है, जब सखियाँ शयनकक्ष से जाने लगती हैं तब वह भी उठकर चल सी पड़ती है, मेरी नवोढ़ा आज अपनी इस प्रतिकूलता के कारण ही मुझे प्राणों से अधिक प्यारी लग रही है। विवाहोपरान्त प्रथम समागम के समय लजाती हुई मलयवती नामक सिद्धकन्या का जीमूतवाहन के मुख से यह वर्णन अति उत्तम है। इसमें नवोढ़ा की लज्जाजन्य चेष्टाओं का सुन्दर वर्णन है। साथ - २ नायक जीमूतवाहन की रस-प्रवणता भी अभिव्यक्त हो जाती है।

श्रीहर्ष का स्थान

श्रीहर्ष का संस्कृत के नाटककारों में शैली की विशेषताओं की द ष्टि से विशिष्ट स्थान है, किन्तु नाटकीयता तथा भाषाप्रौढ़ि की द ष्टि से वे द्वितीय श्रेणी के नाटककार है। संस्कृत नाटक-साहित्य में भवभूति की टकसाली भाषा, विशाखदत्त,नारायणभट्ट आदि की शास्त्रीय पाण्डित्य की चमक के सामने श्रीहर्ष की नाट्यकता निम्न स्तर की है। इतना होने पर भी उन्होंने अपने नाटकों में अपने कवित्व की सुन्दर झाँकी प्रस्तुत की है। डॉ० कीथ के शब्दों में हर्ष के नाटकों को जितनी प्रशंसा मिलनी चाहिए उतनी नहीं मिली। इसका कारण कालिदास के साथ उनकी तुलना है। उनकी नाटिकाओं की मौलिकता कदाचित् महत्त्वयुक्त नहीं है, परन्तु दोनों का ही वस्तु-विन्यास प्रभावशाली है। उनके व्यापार में धारावाहिकता है और दोनों रूपकों में कल्पना का वैभव है। रत्नावली में ऐन्द्रजालिक की कला का द श्य कौतुक और सजीवता के साथ अंकित किया गया है। सागरिका के निकल भागने और वाचालता का संक्षिप्त वर्णन सरस है। रत्नावली में वेशभूषा का परिवर्तन स्वाभाविक और प्रभावशील है। प्रियदर्शिका में दोहरी सुखांतता की कल्पना मनोहर है। उसके चौथे अंक में वैदग्ध्यप्रयोग का निर्वाह परिष्कारपूर्वक किया गया है, जिससे वासवदत्ता एक स्नेहमयी भतीजी के रूप में दिखाई देती है। भौंरेवाला द श्य चित्ताकर्षक है। डॉ० कीथ ने हर्ष की अभिव्यंजना और विचार सारल्य की चर्चा करते हुए लिखा है- 'परपंरा-प्रथित वर्णनों में हर्ष की विशेष रुचि है। संध्या, मध्याह्न, फुलवारी, तपोवन, उद्यान, निर्झर, विवाहोत्सव, स्नानकाल, मलय पर्वत, वन, प्रासाद आदि काव्य के सामान्यतः प्रिय विषय है। प्रतिभा और लालित्य में वे कालिदास ने निश्चय ही घटकर हैं, परन्तु अभिव्यंजना और विचारों की सरलता का महान् गुण उनमें विद्यमान है। उनकी संस्कृत परिनिष्ठित और अर्थगर्भित है। शब्दालंकारों एवं अर्थालंकारों का प्रयोग संयत तथा सुरुचिपूर्ण है। उनके युद्ध-वर्णन में ओज है।

भट्ट नारायण का वेणीसंहार (सातवीं शती का उत्तरार्द्ध)

इनका 'वेणीसंहार' नामक नाटक महाभारत की एक कथा के आधार पर निर्मित है। भट्टनारायण मूलतः कन्नौज के निवासी थे, बाद में बंगाल में जाकर बस गए। वे गौड़ ब्राह्मण थे, भट्ट और म गराज उनकी दो उपाधियाँ थीं। वे बंगाल के राजा आदिशूर के आश्रम में थे। राजा आदिशूर का समय ६५० ई० के लगभग है। अतः भट्टनारायण का समय भी सातवीं शती का उत्तरार्ध माना जा सकता है। अलंकार शास्त्री 'वामन' (८०० ई०) ने इनके नाटक से उद्धरण दिये हैं, अतः ये उनसे पूर्ववर्ती थे, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

वेणीसंहार

भट्टनारायण के तीन ग्रन्थ थे, जिनमें केवल वेणीसंहार ही उपलब्ध है। इसमें लेखक ने महाभारत की एक महत्त्वपूर्ण घटना को अपने नाट्यकौशल से पर्याप्त परिवर्तन करके नवीन रूप प्रदान किया है। कौरवों की सभा में द्यूतक्रीड़ा के समय दुःशासन ने द्रौपदी का चीरहरण करते हुए घोर अपमान किया। द्रौपदी ने अपना अपमान होने पर केश खोल दिये और प्रतिज्ञा की कि दुर्योधन के प्राणांत होने पर ही वह अपनी वेणी बाँधेगी। भीम ने प्रण किया कि वह दुर्योधन का वध करके 'वेणीसंहार' करेगा। दुर्योधन के प्राणान्त होने पर भीम ने द्रौपदी की वेणी बाँधी, अतः नाटक का नाम वेणीसंहार (वेणी का बाँधना) हुआ। इसी मार्मिक घटना को नाटकीयरूप में दिखाने के लिए भट्टनारायण ने महाभारत की कथा को यथेष्ट परिवर्तन करके नवीन ढंग से प्रस्तुत किया है।

'वेणीसंहार' एक आदर्श एवं शास्त्रीयगुणसम्पन्न नाटक माना गया है, अतः इसके उद्धरण नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में नाटकीय तत्त्वों के निरूपण के समय उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किए गए हैं। इसके वस्तु विन्यास की समीक्षा करते हुए पं० बलदेव उपाध्याय ने लिखा है- "इस नाटक के द्वारा सम्पूर्ण महाभारत युद्ध की मुख्य घटना अपने पूर्ण वैभव तथा उदात्तता के साथ हमारे नेत्रों के सामने सजीव होकर झूलने लगती है। कवि ने समग्र घटनाओं के भीतर एक कार्यान्विति रखने का उद्योग किया है, परन्तु नाटकीय पद्धति से बाध्य होने के कारण युद्ध वाले अंकों में गत्यात्मकता के स्थान पर गत्यवरोध ही विशेष दीखता है। त तीय अंक में सुन्दरक का संवाद इस गत्यवरोध का एक उज्ज्वल उदाहरण है। जहाँ सुन्दरक उपन्यास के ढंग पर कथा कहता जाता है और दुर्योधन अपने सारथि के साथ केवल सुनता जाता है। महाभारत इतना भारी भरकम ग्रन्थ है कि उसकी समग्र घटनाओं का एकत्रविन्यास एक प्रकार से दुःसाध्य ही है, कुछ घटनाओं का आवश्यक वर्णन अवश्यम्भावी है, तथापि यह कहना ही पड़ेगा कि भट्टनारायण को वस्तु-विन्यास में काफी सफलता मिली है और इस भव्य नाटक के देखने से 'महाभारत' का समग्र चित्र अपने असली रंग में हमारे सामने बलात् उपस्थित हो जाता है। चरित्र-चित्रण में भी कवि की कुशलता श्लाघनीय है।"

डॉ० कीथ ने वेणीसंहार के कथानक का विवेचन एवं उसके वस्तु-संगठन की समीक्षा करके यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया है- "कुल मिलाकर यह नाटक अनाटकीय है, क्योंकि वर्णनों ने व्यापार को अवरूद्ध कर दिया है। इस रूप में प्रस्तुत किए गए विवरणों की बहुलता उलझन पैदा करती है और रोचकता को नष्ट कर देती है, तथापि चरित्र-चित्रण सुन्दर हैं।" वेणीसंहार में रस व्यंजना की समीक्षा करते हुए डॉ० कीथ ने लिखा है- "इस नाटक में भयानक और करुण की कमी नहीं है, परन्तु श ंगार की व्यंजना निश्चय ही प्रभावहीन है। इसका संभावित कारण यह है कि लेखक का उद्देश्य श ंगार निरूपण नहीं था, अपितु परम्परा ने उसका समावेश करने के लिए उसे बाध्य किया। शास्त्रीय नियमों के प्रति उनकी दास्यभक्ति के कारण भारतीय आलोचकों ने भी उन्हें दोषी ठहराया है। वेणीसंहार की शैली प्रसादपूर्ण है। उसमें ओज और गरिमा है।"

वेणीसंहार का प्रधान रस वीर है। भीम की वीररसयुक्तदर्पोक्तियाँ प्रथम अंक में ही सुनियोजित हैं -

मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपाद्
दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः।
संचूर्णयामि गदया न सुयोधनोरु
संधिं करोतु भवतां न पतिः पणेन।।

भीम की यही प्रतिज्ञा आगे की घटनाओं की श्ंखला प्रस्तुत करती है। द्रौपदी को आश्वस्त करता हुआ भीम पुनः दुर्योधन की जंघाओं को चूर्ण करके उसके रुधिर से द्रौपदी के वेणीसंहार की प्रतिज्ञा करता है-

च चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघात-
स चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य।
स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणि-
रुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः।।

वेणीसंहार में करुणरस की मार्मिक व्यंजना हुई है। ध तराष्ट्र द्वारा भीष्म और द्रोण के निधन के अनन्तर दुर्योधन को युद्ध बन्द करने के लिए समझाने का करुण प्रसंग देखिए -

दायादा न ययोर्बलेन गणितास्तौ भीष्मद्रोणौ हतौ
कर्णस्यात्मजमग्रतः शमयतो भीतं जगत्फाल्गुनात्।
वत्सानां निधनेन मे त्वयि रिपुः शेषप्रतिज्ञो धुना
मानं वैरिषु मु च तात पितरावन्धाविमौ पालय।।

डॉ० कीथ ने इस नाटक में श्ंगार की व्यंजना को प्रभावहीन माना है। नाटक के द्वितीय अंक में भट्टनारायण ने जो श्ंगार-रस की योजना की है, उसे आलंकारिकों ने 'अकाण्डेप्रथनम्' दोष के रूप में माना है। वेणीसंहार में शान्तरस की भी बड़ी सुन्दर व्य जना हुई है-

आत्मारामा विहितरतयो निर्विकल्पे समाधौ
ज्ञानोद्रेकाद्विघटिततमोग्रन्थयः सत्त्वनिष्ठाः।
यं वीक्षन्ते कमपि तममां ज्योतिषां वा परस्तात्
तं मोहान्धः कथमयममुं वेत्तु देवं पुराणम्।।

विदूषक की योजना के अभाव में इस नाटक में हास्यरस की योजना नहीं हो पाई है परन्तु रस के परिपाक की द ष्टि से यह एक उत्कृष्ट नाटक है।

भवभूति और भट्टानारायण की तुलना

भट्टनारायण भवभूति युग के नाटककार है। दोनों नाटककार करुण रस के चित्रण के लिए प्रसिद्ध हैं किन्तु भवभूति इसमें विशिष्टता रखते हैं। भट्टनारायण उनकी समता नहीं कर सकते किन्तु कथानक के विकास एवं घटनाओं के गुम्फन में दोनों ही समान रूप से असफल हैं। दोनों के नाटकों के कथानक शिथिल हैं, उनमे सुसम्बद्धता का अभाव है, नाटकीयता के स्थान पर कवित्व अधिक प्रधान हो गया है। दोनों की रचना 'नाटकीय काव्य' हैं, काव्यात्मक नाटक नहीं। दोनों नाटककारों की शैली गाढ़-समास-बन्धवाली, गद्यात्मक एवं ध्वन्यात्मक है।

निष्कर्ष रूप से हम कह सकते हैं कि भवभूति भट्टनारायण से बहुत ऊँचे हैं, उत्कृष्ट हैं। काव्य शैली में दोनों में साम्य होते हुए भी भवभूति अधिक प्रभावोत्पादक है। प्राकृतिक द श्यांकन में भी भवभूति बहुत बढ़े-चढ़े हैं। भट्टनारायण के नाटक में प्रकृति की विभूतियों का भवभूति जैसा सुन्दर चित्रण नहीं मिलता। इसी प्रकार मानव-हृदय की सूक्ष्म एवं कोमल भावनाओं की अभिव्यंजना में भवभूति भट्टनारायण से बहुत बढ़े-चढ़े हैं। प्रणय-चित्रण में भी भवभूति आदर्श की ओर अधिक झुके हैं, तो

भट्टनारायण का चित्रण शरीरी एवं विलासप्रधान है। इस प्रकार भवभूति की भट्टनारायण से उच्चता सिद्ध होती है। विशुद्ध प्रेम का चित्रण करने में भवभूति अद्वितीय हैं। प्रेम को वे अन्तःस्थ पूतभावनाओं के रूप में ग्रहण करते हैं- प्रेम का रहस्य हृदय ही जानता है- **हृदयं त्वेव जानाति प्रीतियोगं**।'

मुरारि (अष्टम शती का उत्तरार्ध)

इनकी 'अनर्घराघव' नामक नाट्य-रचना उपलब्ध है। इनके पिता का नाम वर्धमानभट्ट और माता का तन्तुमती देवी था। यह मौद्गल्य गोत्रीय ब्राह्मण थे और संभवतः दक्षिण के निवासी थे। इनकी उपाधि 'बाल वाल्मीकि' थी। उनके काल निर्णय का कोई निश्चित आधार नहीं मिलता। मुरारि ने भवभूति के उत्तररामचरित के दो श्लोक उद्ध त किए, अतः वे भवभूति के पश्चात् हुए हैं। सूक्ति ग्रन्थों में उद्ध त प्रशंसात्मक पद्यों में भी इन्हें माघ और भवभूति का पश्चाद्वर्ती निरूपित किया है। रत्नाकर ने अपने 'हरविजय' में इनका स्पष्ट निर्देश किया है। इस प्रकार ये रत्नाकर (लगभग ८५० ई०) से पूर्व हुए और भवभूति (७०० ई० के आसपास) के पश्चात्। इन्हीं आधारों पर मुरारि की स्थिति विद्वानों ने ८०० ई० के लगभग मानी है। पं० बलदेव उपाध्याय के शब्दों में 'अष्टम् शतक के उत्तरार्ध में मुरारि की सत्ता निश्चित की जा सकती है।'

कथानक

अनर्घराघव सात अंक का रामकथा सम्बन्धी नाटक है। इसमें वीर तथा अद्भुत रसों का अच्छा परिपाक हुआ है, अन्य रसों को भी यथास्थान प्रस्तुत किया है। कवि ने इतनी बड़ी रामकथा को एक छोटे से नाटक में निबद्ध किया है। इन पर भवभूति का प्रभाव स्पष्ट है। इन्होंने भवभूति के उत्तररामचरित नाटक के दो श्लोक उद्ध त किये हैं। अनर्घराघव नाटक में विश्वामित्र द्वारा यज्ञ रक्षार्थ महाराज दशरथ से राम-लक्ष्मण की याचना से लेकर राम के राज्यभिषेक तक की कथा को निबद्ध किया गया है। कवि ने राम कथा के कथानक को नाट्य-कौशल एवं समुचित मौलिक परिवर्तनों के साथ प्रस्तुत किया है।

नाटककार मुरारि की शैली द श्य काव्य की अपेक्षा श्रव्य काव्य के लिए अधिक अनुकूल है क्योंकि इनके नाटक की कथा वस्तु निर्जीव, शिथिल एवं गतिहीन है। इसमें वर्णनों एवं लम्बे संवादों से अरुचि उत्पन्न हो जाती है। नाटक का अंक विधान भी असंगठित एवं अनावश्यक रूप से विस्त त है। इसमें सरसता एवं भावात्मकता का भी अभाव है तथा घटनाओं की योजना शिथिल और स्वाभाविक है। मुरारि का पदविन्यास भवभूति से और पद-लालित्य माघ से प्रभावित है, फिर भी इनका कवित्व उतना उच्चकोटि का नहीं है। इनकी अतिशयोक्तियाँ अत्यन्त मार्मिक एवं चमत्कारपूर्ण है-

अनेन रम्भोरु भवन्मुखेन तुषारभानोस्तुलयाध तस्य।
अनस्य नूनं प्रतिपूरणाय ताराः स्फुरन्ति प्रतिमानखण्डाः।।

(राम का सीता के प्रति कथन) 'हे सुन्दरी, जब तुम्हारे मुख तथा चन्द्रमा इन दोनों का तौला गया, तो सौन्दर्य में तुम्हारा मुख ही अधिक सारवान सिद्ध हुआ। वजन की उसी कमी को पूरा करने के लिए मानों चन्द्रमा के साथ इन चमकते तारों की रखना आवश्यक हुआ।"

मुरारि का काव्य ओज के प्रकर्ष से पूर्ण है, उसमें वर्णन की बहुलता है तथा नाद सौन्दर्य से संयुक्त भाव प्रकाशन की अद्भुत क्षमता है। मौलिक एवं सरस उपमाओं तथा शब्दों के चमत्कार एवं व्याकरण संबंधी प्रयोगों को प्रस्तुत करने में भी मुरारि कुशल है। उनका गत्यात्मक प्राकृतिक सौन्दर्य चित्रण भी अद्भुत है।

यथा—

> **द श्यन्ते मधुमत्तकोकिलवधूनिर्धूतंचूतांकुर**
> **प्राग्भारप्रसरत्परागसिकतादुर्गास्तटीभूमयः।**
> **याः कृच्छ्रादतिलंध्य लुब्धकभयार्त्तरेव-**
> **रेणुत्करैर्धारावाहिभिरास्तिलुप्तपदवी।।**

'अहा ये गोदावरी की मनोरम तटभूमियाँ द ष्टिगोचर हो रही हैं। मतवाली कोयलों ने आम जरियों को झकझोर कर इन तटों पर इतनी परागराशियाँ बिखेर दी हैं कि उनके छोटे-छोटे टीले बन गये हैं। व्याधों के भय से भागती हरिणियाँ यद्यपि इन टीलों को कठिनाई से पार कर पाती हैं, किन्तु जब इन्हीं टीलों की पराग धूलि उड़-उड़कर उनके पद-चिन्हों को तिरोहित कर देती है तो वे सुख की सांस लेने लगती हैं।

मुरारि में न तो कालिदास की सुकुमारता है और न मानव-भावों की परख, जिसके कारण भवभूति के नाटक सहृदयों का मनोंरंजन करते हैं।

शक्तिभद्र (८०० ई० के लगभग)

शक्तिभद्र केरल के निवासी थे। जनश्रुति के अनुसार ये आद्य जगद्गुरू शंकराचार्य के शिष्य थे। अतः इनका समय ८०० ई० के लगभग सिद्ध होता है। इनका सुप्रसिद्ध नाटक 'आश्चर्यचूडामणि' रामायण के आधार पर रचित है। कथा में नाटकीयता लाने के लिए लेखक ने उसमें कतिपय परिवर्तन किए है। इसमें अद्भुत का प्रदर्शन है। इसमें सात अंकों में आश्चर्यप्रधान घटनाओं की रोचक श्रं खला प्रस्तुत की गई है। अभिनेयता की द ष्टि से यह रामायण पर आश्रित नाटकों में अत्यन्त उत्कृष्ट है। म० म० कुप्पुस्वामी शास्त्री ने इसे उत्तररामचरित की रचना के बाद सर्वोत्कृष्ट रामायणीय नाटक माना है। वस्तुतः कवित्व की द ष्टि से यह नाटक भवभूति के अमर नाटक के सम्मुख टिक नहीं सकता, किन्तु अभिनेयता की द ष्टि से इसका विशेष महत्व है।

शक्तिभद्र की भाषा प्रसादगुणसम्पन्न तथा अर्थगर्भित है। उन्होंने वैदर्भी रीति को अपनाया और पद्यों में प्रसाद एवं माधुर्य गुण का सुन्दर संयोजन किया।

शक्तिभद्र की एक अपूर्ण रचना 'उन्मादवासवदत्ता' का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त उनकी रचना 'वीणावासवदत्ता' का अपूर्ण प्रकाशन हुआ है। शक्तिभद्र ने 'आश्चर्यचूडामणि' की प्रस्तावना में लिखा है कि उनका नाटक दक्षिण देश का सर्वप्रथम नाटक था। इससे पूर्व उस देश में नाटकों की रचना का अभाव था। केरल के राजा कुलशेखर ने केरल में नाट्य परम्परा को विशेष प्रश्रय दिया तथा रंगमंच में उचित सुधार किया। उपर्युक्त प्रस्तावना की बात सच मानें तो शक्तिभ्रद का समय कुलशेखर से पूर्व सिद्ध होता है। कुलशेखर का समय दशम शताब्दी के मध्य माना जाता है। इस प्रकर शक्तिभद्र का समय नवम शताब्दी का प्रारम्भ माना जा सकता है। शक्तिभद्र केरल के सर्वप्रथम संस्कृत नाटक रचयिता है तथा अद्भुत रस को प्रधान रस के रूप में चित्रण करने के कारण वे विशेष प्रसिद्धि पा गए।

दामोदरमिश्र : (८५० ई० पूर्व)

इनकी रचना 'हनुमन्नाटक' एक महानाटक है, जिसके उद्धरण आनन्दवर्द्धन (सन् ८५० ई०) ने अपने ध्वन्यालोक में दिए हैं। अतः इसका रचनाकाल ८५० ई० से पूर्व माना जा सकता है। इस महानाटक के प्राचीन और नवीन दो संस्करण प्राप्त होते हैं। प्राचीन के रचयिता दामोदर मिश्र और नवीन के मधुसूदनदास मिश्र हैं। प्राचीन संस्करण में १४ अंक है, नवीन में ६ अंक।

'हनुमन्नाटक' का कथानक रामायण से लिया गया है। एक परम्परा एवं श्लोक के अनुसार रामभक्त हनुमानजी ने एक नाटक राम की कथा के आधार पर बनाना प्रारम्भ किया किन्तु यह जानकर कि वाल्मीकि इस पर रामायण लिख रहे हैं, उन्होंने उसे समुद्र में डाल दिया। विद्वानों से किम्वदन्ती सुनकर राजा भोज ने इसका समुद्र से उद्धार कराकर एक विद्वान् द्वारा ग्रन्थ के रूप में प्रकट किया। यह किम्वदन्ती उचित नहीं, क्योंकि राजा भोज का समय १०५० ई० के लगभग है और 'हनुमन्नाटक' की रचना निश्चित रूप से ८५० ई० से पूर्व हो चुकी थी।

इस नाटक में प्राकृत का एक भी गद्यांश नहीं है, विदूषक का अभाव है। गद्य भाग न्यून है, पद्य ही अधिक है। यह नाटकीय अंशों के अभाव में वर्णनात्मक शैली में रचित है। कहीं- कहीं प्राचीन कवियों के प्रसिद्ध श्लोक उद्ध त करने में भी कवि ने संकोच नहीं किया है। इसमें पात्रों की संख्या भी बहुत अधिक है।

क्षेमीश्वर (६०० ई० के लगभग)

महाराज महेन्द्रपाल के दरबारी राजकवि क्षेमीश्वर ने 'नैषधानन्द' और 'चण्डकौशिक' नामक दो रूपकों की रचना की। इनका समय ६०० ई० के आसपास है। नैषधानन्द में महाभारत के नलोपाख्यान का आधार लेकर सात अंकों में नलदमयन्ती की कथा वर्णित है। 'चण्डकौशिक' में सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र की पौराणिक कथा के आधार पर नाटककार ने अपना नाट्य-व त्त बनाया है। ये दोनों ग्रन्थ प्रसादपूर्ण सरल शैली में रचित हैं। नाटकीय-कौशल की द ष्टि से ये दोनो रूपक साधारण रचना की कोटि में आते हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने क्षेमीश्वर के 'चण्डकौशिक' के आधार पर हिन्दी में 'सत्यहरिश्चन्द्र' नाटक का स जन किया।

राजशेखर (दसवीं शताब्दी ई० का प्रारम्भ)

कवि राजशेखर के आश्रयदाता महेन्द्रपाल अथवा निर्भयराज नामक राजा थे। ये दोनों नाम एक ही राजा के हैं। इनका समय ६०० ई० के लगभग सिद्ध होता है राजशेखर ने उद्भट (८०० ई०) तथा आनन्दवर्धन (८५० ई०) का स्पष्ट उल्लेख किया है, अतः राजशेखर इनके परवर्ती या समकालीन थे। यशस्तिलकचम्पू (६५६ ई०) तथा तिलकमंजरी (१००० ई०) में राजशेखर की लोकप्रियता का उल्लेख है। अतः उनका समय दसवीं शताब्दी ईसवी का प्रारम्भ प्रमाणित होता है।

राजशेखर के चार रूपक उपलब्ध होते हैं- बालरामायण, बालभारत, विद्धशालभ जिका और कर्पूरम जरी।

बालरामायण

यह दस अंकों का एक महानाटक है। इसकी रचना रामायण के विख्यात कथानक के आधार पर की गई है। राजशेखर ने इसमें रामकथा को अपनी रोचक कल्पनाओं के समावेश से नवीन रूप प्रदान किया है। इस ग्रन्थ में लेखक ने पाठकों की सहानुभूति राम के स्थान पर रावण के प्रति कराने का प्रयत्न किया है। नाटक के प्रथम तीन अंकों में रावण के व्यक्तित्व एवं धनुष यज्ञ का वर्णन है। रावण सीता-राम का परिणय देखकर खिन्न होता है। चतुर्थ अंक में राम-परशुराम-संवाद पंचम तथा षष्ठ में रावण द्वारा सीताहरण, सप्तम में वानर सेना की सहायता एवं समुद्र पर पुल बनाकर राम का लंका में प्रवेश, अष्टम में राम-लक्ष्मण तथा रावण के सहायकों के मध्य युद्ध, नवम में राम-रावण युद्ध और अन्तिम में राम, लक्ष्मण, सीता तथा उनके साथी विमान द्वारा अयोध्या पहुँचते है। राम का राजतिलक होता है। इस नाटक मे कथानक का अनावश्यक विस्तार मिलता है। इसमें रावण से सम्बन्धित घटनाओं का बाहुल्य करके लेखक ने रावण के प्रति सहृदयों की सहानुभूति जगाने का प्रयत्न किया है।

पं० बलदेव उपाध्याय के शब्दों में 'अपनी अभिरुचि तथा प्रवाह के कारण राजशेखर की प्रतिभा नाटकीय होने की अपेक्षा प्रबन्ध-काव्य के प्रणयन के लिए विशेषतः अनुकूल थी। 'बालरामायण' का विशाल विस्त त रूप उसे अभिनय रूपक होने से सर्वथा रोकता है। राजशेखर वर्णन करने में नितान्त निपुण है, परन्तु ये वर्णन नाटक की प्रकृति से विरुद्ध होने से उसमे खप नहीं सकते। 'बालरामायण' मे ७४१ पद्य हैं, जिनमें ८६ पद्य स्रग्धरा में तथा २०० पद्य शार्दूलविक्रीडित में निबद्ध हैं। अन्तिम अंक में श्री रामचन्द्र के पुष्पक विमान पर चढ़ 'अयोध्या प्रत्यावर्तन' का वर्णन १०५ पद्यों में किया गया है, जो स्वयं किसी पूर्ण नाटक के लिए पर्याप्त माना जा सकता है।'

बालभारत

यह अपूर्ण है। इसका कथानक महाभारत से लिया गया है। इसमें द्रौपदी के विवाह और जुए का वर्णन है तथा जुए में हारने पर कौरवों द्वारा द्रौपदी के वस्त्रहरण आदि अपमान का वर्णन है।

विद्धशालभ जिका

यह शास्त्रीय द ष्टि से एक नाटिका है। इसमें चार अंक हैं। इसका इतिव त्त 'कर्पूरमंजरी' की भाँति रोचक एवं प्रणय-प्रसंग युक्त है। इस नाटिका की रचना कालिदास के मालविकाग्निमित्र और हर्ष की रत्नावली के अनुकरण पर हुई है। राजा चन्द्रवर्मा अपनी पुत्री म गांकवती को पुत्र घोषित करके उसका नाम म गांकवर्मा रखते हैं। वह सम्राट् विद्याधर और उनकी रानी के पास भी जाता है। विद्याधर उसके चिन्तन में मग्न रहते हैं। दैवयोग से अपनी चित्रशाला में म गांकवती की खुदी हुई मूर्ति (विद्धशालभंजिका) देखकर वे उसके गले में मोतियों का हार डाल देते हैं। रानी म गांकवर्मा को बालक जानकर स्त्री वेष पहनाकर इसका विवाह राजा से करके धोखा खा जाती है। चन्द्रवर्मा तो अपनी पुत्री का विवाह राजा से करना ही चाहता था। अब विवश होकर रानी को म गांकवती से यथार्थ में विवाह कराना पड़ता है।

कर्पूरमंजरी

राजशेखर की यह सर्वोत्कृष्ट रचना है। यह सट्टक प्रकार का रूपक है। इसमें कोई भी पात्र संस्कृत में नहीं बोलता, इसकी रचना प्राकृत में हुई है। इसमें कुन्तल राजकुमारी कर्पूरमंजरी तथा महाराज चण्डपाल की प्रणयकथा रोचक ढंग से वर्णित है। श्री कान्तिकिशोर भरतिया ने कर्पूरमंजरी की नाटकीय विशेताओं का वर्णन करते हुए लिखा है- "कर्पूरमंजरी के अध्ययन से पता चलता है कि राजशेखर के समय में स्त्रियाँ अपने नाटकीय भाग का अभिनय करने हेतु स्वयं रंगमंच पर उपस्थित हुआ करती थीं। इस सट्टक में अन्य रूपकों से भिन्न, प्रस्तावना में नान्दी के उपरान्त सूत्रधार किसी पात्र से वार्तालाप नहीं करता परन्तु उसके बदले स्थापक श्लोक बोलता है। इस ग्रन्थ में प्रत्येक अंक के लिए जवनिकान्तर शब्द प्रयुक्त हुआ है तथा जवनिका रंगमंच के परदे का द्योतक है। चर्चरी नामक न त्य विशेष का भी इसमें यत्र-तत्र उल्लेख प्राप्त होता है। इसमें हाव-भाव का प्रधान स्थान है।

राजशेखर की नाटकीय कला का विवेचन करते हुए भरतिया जी ने लिखा है 'कि प्रवाह की शिथिलता तथा हास्य रस का अभाव उनकी शैली की न्यूनताएँ है। भवभूति की भाँति नाटकों में वे पद्यों को दुहराते हैं। स्रग्धरा तथा शार्दूलविक्रीडित जैसे दीर्घ शब्दावली वाले छन्दों के प्रयोग में वे कुशलहस्त हैं। भाषा पर उनका असाधारण अधिकार था। संस्कृत के पश्चात्वर्ती नाटककारों में उनका स्थान महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि राजशेखर ने स्वयं को वाल्मीकि, भत मेठ तथा भवभूति के समान बतलाया है-

बभूव वल्मीकभवः कविः पुरा ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेठताम्।
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया स वर्तते सम्प्रति राजशेखरः।।

तथापि नाटककार के रूप में वे अधिक सफल नहीं हुए। उनमें वाल्मीकि जैसी सरलता और सरसता तथा भवभूति जैसी प्रतिमा का सर्वथा अभाव है। अत्याधिक विस्त त हो जाने के कारण उनके नाटक नीरस, प्रभावहीन व उबाने वाले हो गये। ये गौड़ी राति के कवि है परन्तु यत्र-तत्र पा चाली रीति भी अपनाई गई है। इनके नाटको में गत्यभाव तथा शैथिल्य प्राप्त होता है परन्तु उनके पद्यों में सङ्गीत, नाद, ध्वनि व लय है। ध्वनि से ये अभीष्ट अर्थ की प्रतीति करवाने में निपुण है। लम्बे-लम्बे छन्दो के प्रयोग में भी ये सिद्धहस्त हैं। इनके शार्दूलविक्रीड़ित की प्रशंसा करते हुये क्षेमेन्द्र ने कहा है-**'शार्दूलविक्रीडितैरेव प्रख्यातो राजशेखरः'**। परन्तु इनके नाटकों में नाटकीय विशेषताओं की न्यूनता, चरित्र चित्रण की उपेक्षा व रोचक और कुतूहलपूर्ण द श्यों का सर्वथा अभाव है। इनके नाटकों में भावपक्ष निर्बल है परन्तु कलापक्ष प्रबल है। मानवीय भावों की अभिव्यक्ति कहीं भी मर्मस्पर्शी व हृदयस्पर्शी नहीं है। नाट्यकला के हीन कोटि की होने पर भी उनकी काव्यकला इतनी उच्चकोटि की है कि किसी भी सहृदय को उनके नाटक पढ़ने से पर्याप्त आनन्द की प्राप्ति हो सकती है। इनकी पद संघटना का सौन्दर्य तथा पद्यों का लालित्य दर्शनीय है। सीता के सौन्दर्य का वर्णन करते हुये कवि की कल्पना निस्संदेह प्रशंसनीय है-

इन्दुर्लिप्त इवा जनेन जडिता द ष्टिर्म गीणामिव
प्रम्लानारुणिमेव विदु्मलता श्यामेव हेमद्युतिः।
पारुष्यं कलया च कोकिलवधूकण्ठेष्विव प्रस्तुत
सीतायाः पुरतश्च हन्त शिखिनां बर्हा सगर्हा इव।।

सम्भवतः इसी कारण कवि ने स्वयं भी अपने नाटकों में भणितिगुण की प्रशंसा की है। नाट्यगुण की नहीं।

दिङ्नाग (१००० ई०)

राजशेखर के पश्चात् रामचरित के आधार पर १००० ईस्वी में दिङ्गनाग ने कुन्दमाला की रचना की। उनका यह नाटक १६२३ में मद्रास से प्रकाशित हुआ। पहले बहुत समय तक मेघदूत में उल्लिखित बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग और कुन्दमाला के रचयिता दिङ्नाग एक ही व्यक्ति माने जाते थे परन्तु यह सिद्ध हो चुका है। कि बौद्ध आचार्य दिङ्नाग नाटककार इन दिङ्नाग से सर्वथा भिन्न हैं।

कुन्दमाला भवभूति के उत्तररामचरित से अत्यधिक प्रभावित है। अतः दिङ्.नाग भवभूति के पश्चात् ही हुए होंगे। कुन्दमाला का सर्वप्रथम उल्लेख रामचन्द्र गुणचन्द्र ने अपने नाट्यदर्पण में ११०० ई० में किया है, यथा - **वीरनागनिबद्धायां कुन्दमालायाम्'** (नाट्यदर्पण, प ष्ठ ४८)। दिङ्नाग का नाम वीरनाग या धीरनाग भी था। इस आधार पर दिङ्नाग का स्थितिकाल १००० ईस्वी पश्चात् का माना जा सकता है।

कुन्दमाला छः अङ्कों का एक नाटक है जिसमें रामराज्यभिषेक अनन्तर सीना परित्याग से लेकर राम सीता के पुनर्मिलन तक की कथा दी गई है। गौमती नदी के जल में बहती हुई कुन्दफूलो की माला देखकर राम को सीता का पता चलता है। अतः इस नाटक का नाम कुन्दमाला रखा गया। इसकी कथा रामायण के उत्तरकाण्ड से ली गई है तथा भवभूति के उतररामचरित से इसमें पर्याप्त साम्य है। जैसे दोनों में ही 'छायासीता' की कल्पना की गई है। दोनों ही नाटक सुखान्त हैं। दोनों में करुणरस की प्रधानता है। दोनों ही वाल्मीकि के ऋणी हैं तथा दोनों ने ही रामायण के उत्तरकाण्ड

की सीता परित्याग की कथा को कथानक रूप मे चुना है। यह बात अलग है कि इन दोनों में ही राम सीता का पुनर्मिलन करवा कर नाटक को सुखान्त बना दिया है।

कुन्दमाला में दिङ्नाग ने यद्यपि भवभूति का पर्याप्त अनुकरण किया है तथापि दिङ्नाग की भाषा सरल, सरस, समासरहित व मधुर है। उन्होंने वैदर्भी रीति को अपनाया है। कविता में प्रसाद व माधुर्य है। नाटक के कथानक में गति है, घटना संयोजन में सौष्ठव है व चरित चित्रण भी विशद व सुन्दर है। कुन्दमाला के पात्र अधिक मानवीय हैं। अतः उनमें कुछ मानवीय दुर्बलताएँ भी हैं। जैसे राम सीता परित्याग में स्वयं को दोषी बतलाते हुए अपनी मुर्खता पर पश्चाताप करते हुए कहते हैं-

नीतास्तावन्मकरवसौ बद्धतां शैलसेतु
र्देवो वह्निं च विगणितः शुद्धिसाक्ष्ये नियुक्तः।
इक्ष्वाकूणां भवुनमहिता सन्ततिर्नेक्षिता मे
किं किं मोहादहमकरं मैथिर्ली तां निरस्य।।

कवि ने करुण रस का सुन्दर परिपाक किया है। वन में परित्यक्त सीता की दयनीय दशा देखकर वन के पशु पक्षी भी शोकाकुल हो जाते हैं-

एते रुदन्ति हरिणा हरितं विमुच्य
हंसाश्च शोकविधुराः करुणं रुदन्ति।
न त्तं त्यजन्ति शिखिनो पि विलोक्य
तिर्यग्गता वरममी न परं मनुष्याः।।

कुन्दमाला में यद्यपि भवभूति जैसी मार्मिकता, भावप्रचुरता, मानवीय भावों की भावभिव्य जना एवं रसयोजना तो नहीं है परन्तु यह एक गतिशील रचना है तथा अभिनय की द ष्टि से यह उत्तररामचरित की अपेक्षा अधिक सफल है।

कृष्ण मिश्र : (११ वीं शताब्दी)

११वीं शताब्दी के लगभग कृष्णमिश्र ने प्रबोधचन्द्रोदय नामक प्रतीक नाटक लिखकर संस्कृत रूपक की उस परम्परा को पुनर्जीवित किया जो कालान्तर में विच्छिन्न सी हो गई थी। प्रतीक नाटकों में श्रद्धा, ध ति, भक्ति इत्यादि जैसे अमूर्त भावों को मानवीय पात्र के रूप में प्रस्तुत किया है। अश्वघोष रचित शारिपुत्रप्रकरण के साथ एक अन्य नाटक के कुछ अंश भी खण्डित रूप में प्राप्त हुए थे जिससे बुद्धि, कीर्ति और ध ृति को पात्र रूप से चित्रित किया गया था। उसके पश्चात् कृष्णमिश्र का प्रबोधचन्द्रोदय ही प्रथम उपलब्ध प्रतीक नाटक है।

नाटक की प्रस्तावना में कवि ने राजा कीर्तिवर्मा, उसके सहायक गोपाल और उसके शत्रु चेदिराज कर्ण का उल्लेख किया है। गोपाल ने चेदिराज कर्ण को अपने बाहुबल से जीतकर कीतिवर्मा को पुनः राज्य पर स्थापित किया। चेदिराज का समय एक शिलालेख पर २०४२ ईस्वी दिया गया है। कीर्तिवर्मा से सम्बन्धित भी कई शिलालेख प्राप्त होते हैं जिनमें उनका समय १०६०-६८ ई० दिया गया है। प्रबोधचन्द्रोदय की रचना और अभिनय गोपाल के आदेश से ही कीतिवर्मा की विजय प्राप्ति के उपलक्ष्य में किया गया। अतः कृष्णमिश्र का समय ११वीं शताब्दी की उत्तरार्ध माना जा सकता है।

कृष्णमिश्र के इस प्रतीकात्मक रूपक में छः अङ्क हैं। इसके पात्र इस प्रकार है- मन की दो स्त्रियाँ हैं- प्रव त्ति और निव त्ति। प्रव त्ति से मोह तथा निव त्ति से विवेक उत्पन्न होते हैं। एक तरफ मोह असत् व त्तियों - काम, क्रोध, मद, लोभ, दंभ, अहंकार आदि के साथ मानव जीवन पर अधिकार जमाना चाहता है और दूसरी तरफ विवेक सत् व त्तियों - सन्तोष, शन्ति, करूणा, मैत्री, क्षमा, भक्ति आदि का द्वारा मानव जीवन को वास्तविक आनन्द से ओत-प्रोत कर देना चाहता है। दोनों का संघर्ष चलता रहता है। विवेक का उपनिषद् से साहचर्य होता है जिससे प्रबोध और विद्या का उदय होता है। मोह की पराजय होती है और आनन्द का संचार होता है। इस रूपक में दर्शन तथा अध्यात्म, भक्ति तथा ज्ञान का निरूपण सफलतापूर्वक किया गया है। अद्वैतवाद का प्रतिपादन ही इस नाटक का लक्ष्य है। यह शान्तरस प्रधान रूपकात्मक नाटक है। इसमें गूढ़ दार्शनिक विषयों का विवेचन भी सरल एवं सरस भाषा में रोचक ढंग से किया गया है। दार्शनिक पद्य अत्यन्त प्रभावशाली हैं। मनुष्य के अविवेक का वर्णन प्रस्तुत पद्य में अत्यन्त सुन्दरता से किया गया है-

शान्ते नन्तमहिम्नि निर्मलचिदानन्ये तरङ्गावली
निर्मुक्ते म तसागराम्भसि मनाङ्मग्नो पि नाचामति।
निस्सारे म गत ष्णिकार्णवजले श्रान्तो पि मूढः पिब -
त्याचामत्यवगाहते भिरमते मज्जत्यथोन्मज्जति।।

कृष्णमिश्र के नाटक में न्याय और सांख्य के सिद्धान्तों का भी सुन्दर निरूपण हुआ है। नाटक का निष्कर्ष निम्न श्लोक में प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि मोह रूपी अन्धकार का नाश हो जाने पर ही मनुष्य विश्वात्मक विष्णु रूप (ब्रह्म) को प्राप्त करता है-

मोहन्धकारमवधूय विकल्पनिद्रामुन्मथ्य को प्यजनि बोधतुषाररश्मिः।
श्रद्धाविवेकमतिशान्तियमादिकेन विश्वात्मकः स्फुरति विष्णुरहं स एषः।।

प्रबोधचन्द्रोदय के अनुकरण पर १३वीं शताब्दी में यशस्तिलक ने जैन संस्कृति की प ष्ठभूमि पर मोहपराजय अथवा मोहमुद्गर लिखा। १४वीं शताब्दी में वेङ्कटनाथ अथवा वेदान्तदेशिक ने विशिष्टाद्वैत के प्रतिपादनार्थ १० अकों में संकल्पसूर्योदय लिखा। इसमें कवि के दार्शनिक पाण्डित्य ने नाटकीयता को दबा दिया है। १६वीं शताब्दी में गोस्वामी परमानन्द दास ने चैतन्यमहाप्रभु के जीवन पर आधारित चैतन्य चन्द्रोदय की रचना की। इसमें १० अंक है तथा मूर्त्त पात्रों के साथ भक्ति, वैराग्य, कलि और अधर्म जैसे अमूर्त्त पात्र भी हैं। १६वीं शताब्दी में ही गोकुलनाथ ने अम तोदय की रचना की जिसमें आन्वीक्षिकी, मीमांसा, श्रुति आदि को पात्रों के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसमें सांसारिक बन्धनों एवं क्लेशों तथा मुक्ति पाने के उपायों का वर्णन है।

१७वी शती के लगभग वेदकवि ने जीवानन्द और विद्या परिणयन नाम दो प्रतीक नाटक लिखे। विद्यापरिणयन में सात अंक हैं जिनके विद्या तथा जीवात्मा के विवाह के वर्णन है। जीवानन्द में सात अंक हैं। जिनमें चिकित्सा शास्त्र तथा वेदान्तदर्शन के मूल्यों का प्रतिपादन किया गया है। इसमें जीव नायक है, बुद्धि उसकी पत्नी है तथ त्याग और विज्ञान उसके अमात्य हैं। श्रद्धा, भक्ति और धारणा आदि का भी सुन्दर चित्रण है। इसके अतिरिक्त भी अन्य प्रतीकनाटकों की भी रचना की गई परन्तु कोई भी प्रबोधचन्द्रोदय के समान प्रसिद्ध नहीं हुआ।

जयदेव (१२०० ई० लगभग)

ये विदर्भदेश के कुंडिननगर के निवासी थे। इनकी माँ का नाम सुमित्रा तथा पिता का महादेव था। ये गीतिगोविन्दकार जयदेव से भिन्न हैं। इनका समय सन् १२०० ई० के आस-पास है। इसका

सुप्रसिद्ध नाटक 'प्रसन्नराधव' है। चंद्रालोक नामक अलंकार ग्रन्थ के रचयिता के रूप में जयदेव अलंकारशास्त्र की परम्परा में विख्यात है। जयदेव ने रुय्यक का अनुकरण किया है, अतः इनकी पूर्व सीमा ११५० ई के बाद है और इनके पद्य को केशवमिश्र और विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में उद्ध त किया है। शार्ंगधर पद्धति (१३६३ ई०) में भी प्रसन्नराघव का एक पद्य उद्ध त है अतः जयदेव की ऊपरी सीमा १३६३ ई० सिद्ध होती है।

प्रसन्नराघव में रामायण की कथा अनेक रोचक परिवर्तनों सहित सात अंकों में वर्णित है। यह कथा रावण और बाणासुर द्वारा सीता की याचना से प्रारम्भ होकर रावणवध के उपरान्त राम के आकाश मार्ग से अयोध्या लौटने तक चलती है। प्रसन्नराघव में नाटकीयता की अपेक्षा कवित्व एवं सूक्ति-सौन्दर्य अधिक है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने इस नाटक के कई पद्यों को 'मानस' में हिन्दी में प्रस्तुत किया है। एक पद्य प्रस्तुत है-

अपि मुदमुपयान्तो वाग्विलासैः स्वकीयैः
परभणितिषु तोषं यान्ति सन्तः कियन्तः।
निजघनमकरन्दस्यन्दपूर्णालवालः
कलशसलिलसेकं नेहते किं रसालः।।

इस ससांर में अपने वाणी विलास के आनन्द प्राप्त करने वाले बहुत है **'निज कवित कहि लाग न नीका।'** किन्तु दूसरों की रचना सुनकर आनन्द प्राप्त करने वाले कितने है? दूसरों की रचना से आनन्द उठाना सहृदय सज्जन-पुरुषों का ही काम है। 'प्रसन्नराघव' की भाषा में सूक्तियों के कारण अद्भुत विलास है। भाषा परिष्कृत, उदार, ललित तथा मधुर एवं प्रसादगुण सम्पन्न है।

वत्सराज (बारहवीं शती की उत्तरार्द्ध)

वत्सराज कांलिजर नरेश परमर्दिदेव (सन् ११६३ - १२०३) के मंत्री थे। इनके लिखे हुए छः नाटक प्राप्त होते हैं- कर्पूरचरित (भाण), किरातार्जुनीय (भारविकृत महाकाव्य के आधार पर रचा हुआ व्यायोग), हास्यचूड़ामणि (प्रहसन), रुक्मिणीहरण (ईहाम ग), त्रिपुरदाह (डिम) तथा समुद्रमंथन (समवकार)।

वत्सराज ने विविध प्रकार के रूपकों की रचना की है। इनकी भाषा शैली प्रसाद गुण सम्पन्न तथा प्रांजल है। उनके लघु आकार वाले रूपकों में नाटकीय - क्रियात्मकता, रोचकता एवं कुतूहलपूर्ण घटनाओं का संनिवेश है। 'रुक्मिणीहरण' नाटक का 'नान्दी पद्य' उदाहरण के रूप में प्रस्तुत है-

दरमुकुलितनेत्रा स्मेरवक्त्राम्बुजश्री
रुपगिरिपतिपुत्रि प्राप्तसान्द्रप्रमोदा।
मनसिजमयभावैर्भावितध्यानमुद्रा
वितरतु रुचितं वः शाम्भवी दम्भभङ्गिः।।

उनकी ललित शैली का एक पद्य प्रमुख है-

सिध्यन्ति कामाः बलिनां बलेन लोकस्थितिः किन्तु न लंघनीया
द ष्ट्यैव संहर्तुमलंगिरीशः सत्रच्छिदे सज्जयति त्रिशूलम्।।

जैन महाकवि हस्तिमल्ल (तेरहवीं शती के लगभग)

नाटककार हस्तिमल्ल कर्नाटक निवासी गोविन्द भट्ट के पुत्र थे। गोविन्द को स्वामिन् शब्द से भी सम्बोधित किया है। यह उल्लेख हस्तिमल्ल के नाटकों में मिलता है। गोविन्द ने समन्तभद्र के देवागमस्त्रोत को सुनकर जैन धर्म अपना लिया था। गोविन्द भट्ट गुणभद्राचार्य की परम्परा के शिष्य थे। उनके छः पुत्रों में पाँचवें हस्तिमल्ल थे। कहा जाता है। कि पाण्ड्य राजाओं द्वारा छोड़े गए मदमस्त हाथी को काबू में करने के कारण इनका नाम हस्तिमल्ल पड़ा। वह शास्त्रार्थ में निपुण थे और शेर की भाँति विपक्षी हाथियों का दमन करते थे। इन्होंने अपने नाटकों की प्रस्तावना में अपने पांडित्य का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया है **'सरस्वतीस्वयंवरवल्लभेन महाकवि तल्लजेन।'** प्रो० पटवर्धन ने हस्तिमल्ल के नाटक संग्रह की भूमिका में उनके काल-निर्णय प्रकरण में विद्वानों के मतों का विश्लेषण करने के पश्चात् यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया है कि हस्तिमल्ल ६ वीं शती के उत्तरार्द्ध से १३ वीं शती के उतरार्द्ध के मध्य हुए। उनका स्थितिकाल विवादास्पद है।

हस्तिमल्ल के चार नाटक मिलते हैं- अ जनापवनंजयम्, सुभद्रा (नाटिका), मैथिली कल्याण तथा विक्रान्तकौरव। इनमें से प्रथम दो नाटक प्रकाशित हो चुके हैं। अ जनापवनंजय नाटक हैं और सुभद्रा नाटिका है। अ जनापवनंजय के मंगलाचरण में मुनिसुव्रतनाथ तीर्थङ्कर को नमस्कार किया गया है-

आदौ यस्य पुरश्चराचरगुरोरारब्धसंगीतक-
श्चक्रे नाट्यरसान् क्रमादभिनयन्नाखण्डलस्ताण्डवम्।
यस्मादाविरभूदचिन्त्यमहिमा वागीश्वराद् भारती
स श्रीमान् मुनिसुव्रतो दिशतु वः श्रेयः पुराणः कविः।।

सुभद्रा नामक नाटिका में व षभदेव आदिनाथ तीर्थङ्कर की स्तुति के साथ नान्दी सम्पन्न हुआ है। सुभद्रा नाटिका के अन्त में लिखा है **'इति श्री भट्टारगोविन्दस्वामिनः सूनुना श्रीकुमारसत्यवाक्यदेव-वल्लभोदयभूषणानामार्यमिश्राणामनुजेन कवेर्वर्धमानस्याग्रजेन महाकविना हस्तिमल्लेन विरचितायां सुभद्रानामनाटिकायां।'**

अभी तक हस्तिमल्ल के नाटकों के सम्बन्ध में अनुसन्धान नहीं हुआ है। कर्नाटक के यशस्वी कवि हस्तिमल्ल की नाट्य कृतियाँ उच्चकोटि की हैं और उनका दक्षिण में अध्ययन -अध्यापन भी होता है। उत्तर भारत में उनके अध्ययन की परम्परा नहीं मिलती। हस्तिमल्ल के अनेक विरुद थे। सरस्वती स्वयंवर वल्ल, महाकवि तल्लज और सूक्ति रत्नाकर उनके विरुद थे। उनके बड़े भाई सत्यवाक्य ने उन्हें **'कविता साम्राज्य लक्ष्मीपति'** कहकर उनकी सूक्तियों को बहुत ही प्रशंसा की है।

राजावली-कथा के कर्त्ता ने उन्हें उभय-भाषा कवि चक्रवर्ती लिखा है हस्तिमल्ल पाण्ड्य राजाओं के कृपापात्र थे। ये पाण्ड्य महीश्वर अपने भुजबल से कर्नाटक प्रदेश पर शासन करते थे और जैन धर्म के अनुयायी थे। हस्तिमल्ल की नाट्य कृतियों के कथानक के मूल स्रोत जैन पुराण ग्रन्थ है और उन्हीं के अनुरूप कथानकों का निर्माण किया गया है।

१२वीं शती का नाट्यसाहित्य

यशःचन्द्र-मुदितकुमुदचन्द्र (प्रकरण),

शंखधर- लटकमेलकम् (प्रहसन),

महाराजविग्रहराजदेव- हरकेलि (नाटक),

जैन रामचन्द्र- नलविलास (ना०) राघवाभ्युदय (ना०) यादवाभ्युदय (ना०) रघुविलास (ना०) मल्लिकामकरन्द (ना०) रोहिणीम गांक (ना०) वनमाला (नाटिका) सत्यहरिश्चन्द्र (ना०) निर्भयभीम (व्या०) कौमुदीमित्रानन्द (प्रक०),

जैन रामभद्र मुनि- प्रबुद्धरौहिणेय (प्रक०),

सोमदेव- ललितविग्रहराज (ना०),

देवचन्द्र- चन्द्रप्रभाविजय (प्रक०),

प्रह्लादनदेव- पार्थपराक्रम (व्या०),

का चनाचार्य- धन जयविजय (ना०),

यशःपाल- मोहराजपराजय (प्रतीक),

मेघप्रभाचार्य- धर्माभ्युदय (श्री गदित)

१३वीं शती का नाट्य साहित्य

राजा रूद्रदेव- उषारागोदय (नाटिका) ययातिचरित (ना०),

मदन- पारिजातम जरी (नाटिका)

जयसिंह सूरि- हम्मीरमर्दन (ना०), (वारंगल नरेश प्रताप रूद्रदेव के आश्रित)

विश्वनाथ- सौगन्धिकाहरण (व्या०),

सुभट- दूताड्.गद (प्रथम छाया नाटक),

वत्सराज- किशतार्जुनीय (व्या०) कर्पूरचरित (भाण) त्रिपुरदाह (डिम) रूक्मिणीहरण (ईहा०) हास्यचूडामणि (प्रह०) समुद्रमन्थन (सम०),

जयदेव- प्रसन्नराघव (ना०),

विद्यानाथ- प्रतापरूद्रकल्याण (ना०),

बालचन्द्र सूरि- करुणावज्रायुध (श्री गदित),

विजयपाल- द्रौपदीस्वयंवर (श्री गदित),

सोमेश्वर- उल्लासराधव (छाया),

हरिहर- शंखपराभव (व्या०),

हस्तिमल्ल- विक्रान्तकौरव (ना०) मैथिलिकल्याण (ना०), अ जनापवन जय (ना०) सुभद्रा (नाटिका)

१४वीं शती का नाट्य साहित्य

रविवर्मा कुलशेखर- प्रद्युम्नाभ्युदय (ना०),

वेंकटनाथ- संकल्पसूर्योदय (प्रतीक),

मणिक- भैरवानन्द (ना०),

मोक्षादित्य- भीमविक्रम (व्या०),

नयनन्द्र- रम्भाम जरी (सट्टक),

शिंगभूपाल- कुवलयावली (नाटिका),

कविराज विश्वनाथ- चन्द्रकला (नाटिका),

पूर्णसरस्वती- कमलिनीराजहंस (छाया)

१५वीं शती का नाट्य साहित्य

व्यासरामदेव - रामाभ्युदय (ना०) पाण्डवाभ्युदय (ना०) सुभद्रपरिणय (ना०),

उद्दण्ड- मल्लिकामारूत (प्रक०),

विद्यापति- गोरक्षविजय (ना०),

वामनभट्ट- पार्वतीपरिणय (ना०) कनकलेखा (नाटिका) श ंगारभूषण (भाण),

जीवराम याज्ञिक- मुरारिविजय (ना०),

ज्योतिरीश्वर- धूर्तसमागम (प्रह०),

ब्रह्मसूरि- ज्योतिःप्रभाकल्याण (ना०),

विरूपाक्ष- उन्मत्त राघव (प्रेक्षणक),

धर्मसूरि- नरकासुरविजय (व्या०),

गंगाधर- गड्.गदासप्रतापविलास (ना०),

नेमिनाथ- शामाम त (छाया),

मथुरादास- व षभानुजा (नाटिका),

दामोदरभट्ट- वसुमतिमानविक्रम (ना०)

१६वीं शती का नाट्यसाहित्य

कर्णपूर- चैतन्यचन्द्रोदय (प्रतीक),

गोकुलनाथ- मुदितमदालसा (नाटिका) अम तोदय (ना०)

लक्ष्मणमाणिक्यदेव- कुवलयाश्वचरित (ना०) विख्यातविजय (ना०),

बालकवि- रन्तुकेतूदय (ना०) रविवर्माविलास (ना०),

विलिनाथ- म जरीमहोत्सव (ना०)

१७वीं शती का नाट्य साहित्य

सठकोप- वसन्तिकापरिणय (ना०),

कुमारताताचार्य- पारिजात (ना०),

रामानुज- वसुलक्ष्मीकल्याण (ना०),

रामभद्र दीक्षित- जानकीपरिणय (ना०),

सम्राजदीक्षित- श्रीरामचरित (ना०),

भूमिनाथ- श ंगारसर्वस्व (भाण)

१८वी शती का नाट्य साहित्य

भूदेवशुक्ल- धर्मविजय (प्रतीक), (काठियावाड़ के शीघ्रकवीश्वर)

जगन्नाथ- भाग्यमहोदय (प्रतीक),

आनन्दरायमखी- विद्यापरिणय (प्रतीक) जीवानन्दन (प्रतीक),

मल्लारी आराध्य- शिवलिंगसूर्योदय (प्रतीक), तंजौर के राजकवि

जगन्नाथ- वसुमतीपरिणय (ना०) रतिमन्मथ (ना०),

शंकर दीक्षित- प्रद्युम्नविजय (ना०) शारदातिलक (भाण),

कृष्ण दत्त- कुवलयाश्वीय (ना०),

विश्वनाथ- म गाड्.कलेखा (नाटिका),

देवराज- बालमार्तण्डविजय (ना०),

वेंकटसुब्रह्मण्याध्वरी- वसुलक्ष्मीकल्याण (ना०),

पेरूसूरि- वसुमड्.गल (ना०),

रामदेव- विद्यामोदतरड्.िगणी (प्रतीक),

नल्लाध्वरी- श ंगार सर्वस्व (भाण) सुभद्रा परिणय (ना०) चित्तव त्तिकल्याण (प्रतीक) जीवन्मुक्तिकल्याण (प्रतीक),

शाह जी- चन्द्रशेखरविलास (ना०) प चभाषाविलास (एकांकी)

चौक्कनाथ- रसविलास (भाण) कान्तिमतीपरिणय (ना०) सेवन्तिकापरिणय (ना०),

वेंकटेश्वर- प्रतिज्ञाराघवानन्द (ना०) राघवानन्द (ना०), सभापतिविलास (ना०) नीलापरिणय (ना०) उन्मत्तकविकलश (प्रह०),

नारायणतीर्थ- कृष्णलीलातरड्.िगणी (गीति नाटक),

उमापति उपाध्याय- पारिजातहरण (ना०),

अनादिमिश्र- मणिमाला (नाटिका),

जगन्नाथ- शरभराजविलास (काव्य), श ंगारतरड्.िगणी (भाण) अनड्.गविजय (भाण),

विश्वेश्वर पाण्डेय- नवमालिका (नाटिका) श ंगारम जरी (सट्टक),

घनश्याम- मदनस जीवन (भाण) कुमारचरित (नाटक) आनन्दसुन्दरी (सट्टक) चण्डानुर जन (प्रह०) नवग्रहचरित (ना०) प्रचण्डराहूदय (प्रतीक) अनुभूतिचिन्तामणि (प्रतीक) गणेशचरित (ना०),

न सिंह कवि- अनुमितिपरिणय (प्रतीक),

श्रीधर- लक्ष्मीदेवनारायणीय (ना०),

बाणेश्वर शर्मा- चन्द्राभिषेक (ना०),

म० म० कृष्णनाथ सार्वभौम भट्टाचार्य- आनन्दलतिका (ना०),

चयनि चन्द्रशेखर रायगुरू- मधुरानिरुद्ध (ना०)

द्वारकानाथ- गोविन्दवल्लभ (ना०),

रामापाणिवाद- सीताराघव (ना०) मदनकेतुचरित (प्रह०) लीलावती (वीथी) चन्द्रिका (वीथी),

अश्वतितिरूणाल रामवर्मा- रूक्मिणीपरिणय (ना०) श ंगारसुधाकर (भा०),

शिवकवि- विवेकचन्द्रोदय (प्रतीक),

न सिहँ कवि 'अभिनव कालिदास' - चन्द्रकलाकल्याण (ना०),

काशीपति कविराज- मुकुन्दानन्द (भाण),

कवि चन्द्रद्विज- कामकुमारहरण (ना०),

हरियज्वा (हरि दीक्षित)- विवेकमिहिर (प्रतीक) कंसान्तक (ना०) न सिंहञ(ना०),

कृष्णदत्त- सान्द्रकुतूहल (प्रह०),

प्रधान वेड्.कप- कामविलास (भाण) कुक्षिंभरभैक्षव (प्रह०) महेन्द्रविजय (डिम) वीरराघव (व्या०) सीताकल्याण (वीथी)। लक्ष्मीस्वयंवर (सम०) रुक्मिणीमाधव (अंक) उर्वशीसार्वभौम (ईहा०),

रामचन्द्र शेखर- कलानन्दक (ना०),

कृष्णदत्त मैथिल- कुवलयाश्वीय (ना०) पुर जनचरित (प्रतीक),

रमापति उपाध्याय- रुक्मिणीपरिणय (ना०),

लाल कवि- गौरीस्वयंवर (एकांकी),

नीलकण्ठ मिश्र- भ जमहोदय (ना०),

भोलानाथ शुक्ल- कर्णकुतूहल (ना०),

वैद्यनाथ वाचस्पति भट्टाचार्य- चित्रयज्ञ (ना०),

वेंकटाचार्य त तीय- श ृंगारतरंगिणी (ना०),

वीर राघव- मलयजाकल्याण (नाटिका),

शक्तिवल्लभ भट्टाचार्य- जयरत्नाकर (ना०),

जातवेद- पूर्णपुरूषार्थचन्द्रोदय (प्रतीक),

कविरत्नपुरोहित सदाशिव उद्गाता- प्रमुदितगोविन्द (ना०),

गौरीकान्त द्विज- विघ्नेशजन्मोदय (ना०),

हरिहर उपाध्याय- भ र्तहरिनिर्वेद (ना०) प्रभावतीपरिणय (ना०)

१६वीं शती का नाट्य साहित्य

पद्मनाभ- त्रिपुरविजय (व्यायोग),

बल्लिशाय- ययातितरुणनन्दन (ना०),

विराराघव- रामराज्याभिषेक (ना०), बालिपरिणय (ना०),

रामचन्द्र- श ृंगारसुधार्णव (भाण),

म० म० शंकरलाल- सावित्रीचरित (ना०) ध्रवुाभ्युदय (ना०) भद्रयुवराज (ना०) वामनविजय (ना०) पार्वतीपरिणय (ना०),

ईचम्वदी श्रीनिवासाचारी- श ृंगारतरंगिणी (भाण) उषापरिणय (ना०),

भद्रादिरामशास्त्री- मुक्तावल (ना०),

पेरीकाशीनाथ शास्त्री- पांचालिकारक्षण (ना०) यामिनीपूर्णतिलक (ना०),

श्री निवासाचारी- ध्रुवचरित (ना०) क्षीराब्धिशयन (ना०),

मूलशंकर माणिकलालयाज्ञिक- छत्रपतिसाम्राज्य (ना०) प्रतापविजय (ना०) संयोगितास्वयंवर (ना०),

पं० अम्बिकादत्त व्यास- सामवत (ना०),

डॉ० दे० खं० खण्डीकर- च्यवनमार्गवीयम् (ना०),

अधीरकुमार सरकार- कचदेवयानीयम् (ना०) पाशुपत (ना०),

जगदीश प्रसाद सेमवाल- यमनचिकेतसीय (ना०),

चण्डीदास नन्द शर्मा- परमसन्धिक्षणे दैवपुरूषकारौ (ना०),

डॉ० अशोककुमार कालिया- सुधाभोजन (ना०),

गजेन्द्र शंकर लाल शंकर पण्ड्या- कः श्रेयान् (प्रह०),

वेलादेवी- नचिकेतश्चरित (एकांकी),

रेवाप्रसादद्विवेदी- कांग्रेसपराभव (ना०) यूथिका (अनूदित ना०)

२०वीं शती का नाट्य साहित्य

प्रभुनारायण सिहँ- पार्थपाथेय (ना०),

हरिसिद्धान्त वागीश- विराजसरोजिनी (नाटिका) मिवारप्रताप (ना०), शिवाजिचरित (ना०) बड्.गीयप्रताप (ना०),

लक्ष्मण सूरि- दिल्लीसाम्राज्य (ना०) पौलस्त्यवध (ना०) घोषयात्रा (डिम),

परशुरामनारायणपाटणकर- वीरधर्मदर्पण (ना०)

प चानन तर्करत्न- कलड्.कमोचन (ना०) अमरमड्.गल (ना०),

रणेन्द्र नाथ गुप्त- हरिश्चन्द्रचरित (ना०),

कालीपद- नलदम्यन्तीय (ना०) माणवकगौरव (ना०) प्रशान्तरत्नाकर (ना०) स्यमन्तकोद्धार (व्या०),

जीवन्यायतीर्थ- महाकविकालिदास (ना०) शंकराचार्यवैभव (ना०) रघुवंश (ना०) कुमारसम्भव (ना०) नागनिस्तार (ना०) निगमानन्दचरित (ना०) कैलासनाथविजय (व्या०) गिरिसंवर्धन (ना०) कृष्णकौतुक (ना०) पुरूषपुड्.गव (भाण) विधिविपर्यास (प्रह०) विवाहविडम्बन (प्रह०) रामनामदातव्यचिकित्सालय (संलापक) साम्यसागरकल्लोल (ना०) चौरचातुरीय (प्रह०) चण्डताण्डव (प्रह०) दरिद्रदुर्देव (प्रह०) वनभोजन (प्रह०),

वाई० महालिंग शास्त्री- उद्गात दशानन (ना०) प्रतिराजसूय (ना०) कलिप्रादुर्भाव (प्रतीक) आदिकाव्योदय (प्रक०) कौण्डिन्य (प्रहसन) श ृंगारनारदीय (ना०) अयोध्याकाण्ड (ना०) मर्कटमार्दलिक (ना०),

रामस्वामी शास्त्री- रतिविजय (ना०),

जग्गू श्रीवकुलभूषण- अद्भुतांशुक (ना०) प्रतिज्ञा कौटिल्य (ना०) म जुलम जीर (ना०) प्रसन्नकाश्यप (ना०) अप्रतिमप्रतिम (ना०) प्रतिज्ञाशान्तवन (ना०) अनड्.गदा (प्रहसन) मणिहरण (ना०) यौवराज्य (ना०) बलिविजय (ना०) अमूल्यमाल (ना०),

रमानाथ मिश्र- चाणक्यविजय (ना०) पुरातनबालेश्वर (ना०) समाधान (ना०) प्राशचित्त (ना०) आत्मविक्रय (ना०) कर्मफल (ना०) श्री राम विजय (ना०),

मथुराप्रसाददीक्षित- भारतविजय (ना०) वीरप्रताप (ना०) भक्तसुदर्शन (ना०) शंकरविजय (ना०) प थ्वीराजविजय (ना०) गान्धिविजय (ना०) भूभारोद्धरण (ना०),

नित्यानन्द- मेघदूत (ना०) तपोवैभव (ना०) प्रह्लादविनोदन (ना०) सीतासमाविर्भाव (ना०),

श्रीरामवेलवणकर- कालिदासचरित (ना०) कालिन्दी (ना०) छत्रपतिशिवराज (ना०) कैलासकम्प,

स्वातन्त्र्यलक्ष्मी, हुतात्मादधीचि, राज्ञी दुर्गावती, स्वातन्त्र्यचिन्ता, स्वातन्त्र्यमणि, मध्यमपाण्डव (रेडियो रूपक) मेघदूतोत्तर (गीति नाट्य) तिलकायन (ना०) लोकमान्यस्म ति (ना०),

डॉ० हरिचन्द्र दिवेकर- कालिदासमहोत्साह (ना०),

अमियनाथ चक्रवर्ती- हरिनामाम त (ना०) धर्मराज्य (ना०),

सिद्धेश्वरचट्टोपाध्याय- धरित्रीपतिनिर्वाचन (नाटिका) अथ किम् (नाटिका) ननाविताडन (प्रह०) स्वर्गीयहसन (प्रह०), वीरेन्द्रकुमार भट्टाचार्य - कालिदासचरित (ना०) गीतगौराड्.ग (गीति ना०) सिद्धार्थचरित (ना०) शूर्पणखाभिसार (गीति ना०) शार्दूलशकट (ना०) वेष्टन (व्यायोग) शरणार्थिसंवाद (ना०),

व्यासराजशास्त्री- विद्युन्माला (एकांकी) लीलाविलास (प्रह०) निपुणिका (एकांकी) चामुण्डा (ना०) शार्दूलसम्पात (एकांकी),

वेंकटराममाधव- कामशुद्धि (एकांकी) प्रतापरूद्रविजय (ना०) विमुक्ति (प्रह०) रासलीला (प्रेक्षणक) विजयाड्.का (प्रेक्ष०) विकटनितम्बा (प्रेक्ष०) अवन्तिसुन्दरी (प्रेक्ष०) लक्ष्मीस्वयंवर (प्रेक्ष०) पुनरुन्मेष (प्रेक्ष०) आषाढस्य प्रथमदिवसे (प्रेक्ष०) महाश्वेता (प्रेक्ष०) अनार्कली (नाटिका),

सुन्दरार्य- उमापरिणय (ना०) मार्कण्डेय विजय (ना०),

विश्वनाथ सत्यनारायण- गुप्तपाशुपत (ना०) अम तशर्मिष्ठ (ना०)

विष्णुपदभट्टाचार्य- का चनकु चिक (ना०) धन जयपुर जय (ना०) कपालकुण्डला (अनूदित ना०) अनुकूलगलहस्त (प्रह०) मणिका चन समन्वयः (प्रह०),

लीला- गिरिजायाः प्रतिज्ञा (ना०) बालविधवा (ना०) होलिकोत्सव (एकांकी) व त्तशंसिच्छत्र (ना०) मीराचरित (एकांकी) स्वर्णपुरकृषीवल (एकांकी) असूयिनी (एकांकी) क्षणिकविभ्रम (एकांकी) गणेशचतुर्थी (एकांकी) मिथ्याग्रहण (एकांकी) कटुविपाक (ना०), कपोतालय (प्रह०) वीरभा (एकांकी) तुकारामचरित (ना०) ज्ञानेश्वरचरित (ना०) जयन्तुकुमाउनीया (ना०) तुलाचलाधिरोहण (ना०) मायाजाल (ना०),

विश्वेश्वर विद्याभूषण- चाणक्य विजय (ना०) वाल्मीकिसंवर्धन (ना०) प्रबुद्धहिमाचल (ना०) उत्तरकुरूक्षेत्र (ना०) भारतमेलन (ना०) दस्युरत्नाकर (ना०) विष्णुमाया (ना०) राजर्षिभरत (ना०) उमातपस्विनी(ना०) द्वारावती (ना०) मात पूजन(ना०) ओंकारनाथमंगल (ना०) राजर्षिसुरथ (ना०) काशीकोपलेश (ना०) अरूणाचलकेतन (ना०),

यतीन्द्रविमल चौधरी- महिममयभारत, मेलनतीर्थ, भारतहृदयारविन्द, भास्करोदय, भारतविवेक, विश्वविवेक, स्वप्नरघुवंश, भारतजनक, भारतराजेन्द्र, सुभाषसुभाष, देशबन्धुदेशप्रिय, रक्षकश्रीगोरक्ष, निष्कि चनयशोधर, शक्तिसादर, विमलयतीन्द्र, महाप्रभुहरिदास, भारत लक्ष्मी, अमरमीरम, आनन्दराधम् (ना०),

रमा चौधरी- यतीन्द्रयतीन्द्रम, शंकरशंकरम्, देशदीप, पल्लीकमल, कविकुलकोकिल, मेघमेदुरमेदनीय, युगजीवन, अभेदानन्द, निवेदितनिवेदितम, रामचरितमानस्, रसमयरासमणि, संसाराम त चैतन्यचैतन्यम्, नगरनुपूरम्, भारतपथिक, कविकुलकमल, प्रसन्नप्रसाद, भारताचार्य, अग्निवीणा, गणदेवता, भारततात (ना०),

के०तिरूवेंकटाचार्य- अमर्षमहिमा (एकांकी),

ओम्प्रकाशशास्त्री- क्षमाशीलो युधिष्ठिरः (लघु नाटक),

सुदर्शन त्रिपाठी- सिंहलविजय (ना०),

स्कन्दशंकरखोत- मालाभविष्यम्, लालावैद्यम, हा हन्त शारदे (प्रहसनम्),

नीर्पाजेभीमभट्ट- कश्मीरसंधानसमुद्यमम् (ना०) हैदराबादविजय (ना०),

वेंकटरामशास्त्री- सीताकल्याणनाटक (ना०),

सत्यव्रतशास्त्री- नपुंसकलिंगस्य मोक्षप्राप्तिः (ना०),

सुरेन्द्रमोहन- वैद्यदुर्ग्रहः (ना०), का चनमाला (ना०), प चकन्या (ना०), प्रजापतेः पाठशाला (ना०), अशोककानने जानकी (ना०), वणिक् सुता (ना०),

डॉ० क्षितीशचन्द्रचट्टोपाध्याय- अन्धैरन्धस्य यष्टिः प्रदीयते (एकांकी),

चूडानाथभट्टाचार्य- परिणाम (ना०),

बी० श्रीनिवासभाट- रामानन्द (ना०),

जीवनलालपारिख- छायाशाकुन्तल (ना०),

बुद्धदेवपाण्डेय- आदिकविः (ना०),

डॉ० कृष्णलाल- प्रतीकार (ना०),

वेंकटकृष्णराव- भक्तिचन्द्रोदय (ना०),

डॉ० हरिहरत्रिवेदी- नागराजविजय (ना०), गणाभ्युदय (ना०),

नारायणशास्त्रिकांकर- नराणां नापितो धूर्तः (ना०),

ध्यानेशनारायणचक्रवर्ती- दस्युरत्नाकर (ना०),

श्री कृष्णमणि त्रिपाठी- सावित्री नाटक (ना०),

सीतारामाचार्य- भैमीनैषधीय (एकांकी),

भास्करकेशवढोक- श्रीकृष्णदौत्य (ना०),

बदरीनाथशास्त्री- रत्नावली (नाटिका),

श्री माता- सत्यारोहण (ना०),

भागीरथप्रसादत्रिपाठी- कृषकाणां नागपाशः (ना०),

वामदेव- नागेशम् (एकांकी),

ह० व० भुजङ्०गाचार्य- प्रतिभाविलास (एकांकी),

दे० ति० ताताचार्य- पुनः स ष्टिः (ना०), सोपानशिला (ना०),

वि० वि० श्रीमहोदय- रामराज्य (ना०),

श्रीमहीधरवेंकट रामशास्त्री- सरोजिनीसौरभ (ना०),

बैद्यनाथ- गणेशपरिणय (ना०),

गोविन्दकवि जोशी- पुष्पतनयराज्यरोहणम् (ना०),

मंगलगिरिकृष्णद्वैपायनाचार्य- वसन्तमित्र (माण),

वेंकटरमणार्य- कमलाविजय (ना०), जीवस जीवन (ना०),

श्वेतारण्यनारायणदीक्षित- मुकुटाभिषेक (ना०),

टी० ए० विश्वनाथ- वल्लीपरिणय (ना०),

रामशास्त्री- नलविजय (ना०),

वेंकटकृष्णतम्पी- श्री रामकृष्ण चरित (ना०), ललिता (ना०), प्रतिक्रिया (ना०), वनज्योत्सना(ना०), धर्मस्य त्वरिता गतिः(ना०),

छज्जूरामशास्त्री- दुर्गाभ्युदय (ना०),

सहस्रबुद्धि- अब्दुलमर्दन (ना०), प्रतीका (ना०),

माणिकपाटिल- कन्यादान (ना०),

मेघाव्रत शास्त्री- प्रकृतिसौन्दर्य (ना०),

कृष्णपन्त- कामकन्दल (ना०),

रङ्.गाचार्य- श्रीशिवाजिविजय (ना०), हर्षबाणभट्टीभर (ना०),

बटुकनाथ शर्मा- पाण्डित्यताण्डवित (प्रहसन),

का० र० वैशम्पायन- देशस्वातन्त्रय - समरकाले राष्ट्रधर्म (एकांकी),

नारायणरावचिलकुरी- विक्रमाश्वत्थामीय (व्यायोग),

ऋद्धिनाथ- शशिकलापपरिणय, पूर्णकाम (एकांकी),

विद्याधरशास्त्री- कलिपलायन (ना०), पूर्णानन्द (ना०), दुर्बलबल (ना०),

सुन्दरेशशर्मा- प्रेमविजय (ना०), श ंगारशेखर (भाण),

वेंकटरामयज्वा- श्रीकृष्णार्जुनविजय (ना०),

एस० के० रामनाथशास्त्री- मणिम जूषा (ना०),

के० आर० नेयर अलवाय- अलब्धकर्मीय (ना०),

प्रभुदत्तशास्त्री- संस्कृतवाग्विजय (ना०),

श्रीनिवासरङ्.गार्य- गुरूदक्षिणा (ना०),

विश्वेश्वर दयाल- मुकुन्दलीलाम त (ना०), हनुमन्नाटक (ना०),

सत्यव्रत- महर्षिचरिताम त (ना०),

जग्गूशिंगरार्य- शिविवैभव (ना०),

कपिलदेवद्विवेदी- परिवर्तन (ना०),

वासुदेवद्विवेदी- कौत्सस्य गुरूदक्षिणा (ना०), भोजराज्ये संस्कृतसाम्राज्य (ना०) स्वर्गीयसंस्कृतकविसम्मेलन (ना०) बालनाटक,

देवकीमेनन देवी- कुचेलव त्त (संगीत प्रेक्षणक),

एस० के० रामचन्द्रराव- पौरवदिग्विजय (ना०),

एच० वी० नारायणशास्त्री- श्री कृष्णभि०क्षा - (ना०),

लक्ष्मीनारायण राव- धर्म रक्षण (ना०),

श्री कृष्ण जोशी- कृतार्थकौशिक (ना०),

डेग्वेकरपाण्डुरङ्.गशास्त्री- हर्षदर्शन (ना०),

रामलिंगशास्त्री- सत्याग्रहोदय (ना०), शुनः शेप (ना०), मेधानुशासन (ना०), सुग्रीवसख्य (ना०), विक्रान्तभारत (ना०), देवयानी, यामिनी (रेडियो रूपक),

गजाननबालकृष्णपुलसुले- समानवस्तु मे मनः धन्येयं गायनी कला, धन्यो हं धन्यो हम् (एकांकी),

योगेन्द्र मोहन- संयुक्ताप थ्वीराज (ना०),

शठकोप विद्यालंकार- भारती विजय (ना०),

कोगण्टि सीतारामाचार्य- प्रतिज्ञाकौत्स, आनूरव, ऐकलव्य, पद्मावती, चरणचारणचक्रवर्ती (एकांकी),

हेमन्तकुमार तर्कतीर्थ- सरस्वतीपूजन (ना०),

रामकिशोर- अङ्.गुष्ठदान (ना०),

पट्टाभिरामशास्त्री- नवोढावधूः वरश्च (भाण),

डॉ० चण्डिकाप्रसाद शुक्ल- वीरवदान्य तापसधन जयम् (एकांकी),

आनन्द झा- पुनःसङ्.गम (ना०),

पं० रमानाथ पाठक- कालिदास पाणिकरण (एकांकी),

अच्युतात्माराव बोडवे- सीतात्याग (एकांकी),

रमेश खेर- मदनदहन (एकांकी),

पं० वनेश्वरपाठक- कालिदास (एकांकी),

रा० श० महाराज- मदनदहन (एकांकी),

यदुवंश मिश्र- गुरूदक्षिणा (एकांकी),

श्री नारायण मिश्र- इन्दुमती परिणय (एकांकी),

झापाह्वो जीवनाथ शर्मा- कालिदासगौरव (एकांकी),

शिवप्रसाद भारद्वाज- साक्षात्कार (भाण) अजेयभारत, केसरिचंक्रम (ध्वनिरूपक),

विश्वनाथकेशवछत्रे- प्रतापशाक्त (ना०) सिद्धार्थ प्रव्रजन (ना०), शिक्षण (ना०) जवाहरस्वर्गारोहण (एकांकी) नन्दिनीवरप्रदान (एकांकी) कीचकहनन (ना०), अन्वर्थको लालबहादुरो भूत् (ना०) अपूर्वः शान्ति स्रंगामः (एकांकी),

गणेश शास्त्रि लोण्ढे- भूपो भिषकत्वं गतः (एकांकी),

गोपालशास्त्री- पाणिनीयनाटक, नारीजागरण (ना०), गोमहिमाभिनयनाटक (ना०)।,

डॉ० बलदेव सिहँ वर्मा- हर्षदर्शनम् (एकांकी),

यज्ञनारायण दीक्षित- पद्मावती (नाटिका), श्रीनिवासस्य विवाहः (ना०),

श्रीरामकुबेर- तीर्थयात्रा (प्रहसन),

विनायकबोकील- शिववैभव (ना०), श्रीकृष्ण रूक्मिणीय (ना०), रमामाधव (ना०),

डॉ० राजेन्द्र मिश्र- कविसम्मेलन (ना०), राधामाधवीय (ना०), फन्टूसचरित (ना०), नवरस (प्रहसनम्), कचाभिशापः (ना०), रामकैलासपाण्डेय - प्रबुद्धभारत (ना०),

नवनीतशास्त्री- सत्सङ्.गविजय (प्रतीक),

सुब्रह्मण्यशर्मा- समीहितसमीक्षण (ना०),

वा० का० क्षीरसागर- नाट्ये च दक्षा वय (प्रहसन),

के० वी० पाण्डुरङ्.गी- उपनिषद्रूपकाणि (४ रूपक) तपः फल (एकांकी),

रमाकान्त मिश्र- जवाहरलाल नेहरूविजयनाटक,

विश्वनाथ मिश्र- कलिकौतुक (प्रतीक) वामनविजय (ना०) कविसम्मेलन (प्रहसन),

दुर्गाप्रसन्नदेवशर्मा- एकलव्यगुरूदक्षिण (ना०),

सुब्बूराम- मेधोदय (ना०),

साम्बदीक्षित- महागणपतिप्रादुर्भाव (ना०),

सुखमयगङ्.गोपाध्याय- पातिव्रत्य (एकांकी), विद्यामन्दिर (एकांकी),

पं० ललितमोहन- देवीप्रशस्तिनाटक,

हजारीलालशर्मा- हकीकतरायनाटक (एकांकी),

श्रीधरभास्कराचार्य वर्णेकर- विवेकानन्दविजय (ना०),

डॉ० वनमाल भवालकर- पाददण्ड (ना०) रामवनगम, पार्वती परमेश्वरीय, (संगीतिका),

वेंकटरत्न- इन्दिराविजय (ना०),

पद्मशास्त्री- बंगलादेशविजय (ना०),

वेङ्.गुलसुब्रह्मण्यशास्त्री- वरूथिनीप्रवर (एकांकी),

डॉ० राधावल्लभत्रिपाठी- प्रेमपीयूष (ना०), प्रेक्षणसप्तक (प्रेक्षणक), तण्डुलप्रस्थीय (प्रकरण),

श्री हरदेवोपाध्याय- भारतमस्ति भारतम् (ना०)